❀ ओ३म् ❀

विरजानन्द-प्रकाश

लेखक—

श्री भीमसेन शास्त्री विद्याभूषण

एम्. ए., (संस्कृत-हिन्दी), एम्. ओ. एल्., बी. ए. आनर्स

३१२, नयापुरा, कोटा (राजस्थान)

प्रकाशक—

प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान

४९४३ रेगरपुरा, गली नं० ४०

करोलबाग, देहली

कलि सं० ५०६० विक्रमीय सं० २०१६
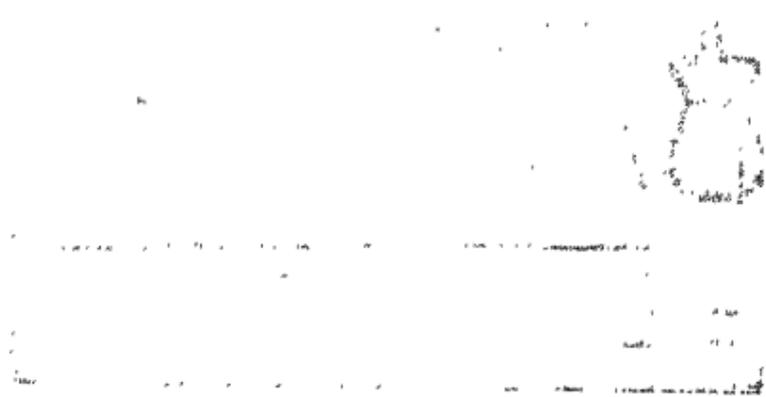
भूमिका

आर्ष-ज्योति के महान् उद्धारक

इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्राचीन काल में आर्यावर्त्त समस्त भूमण्डल का गुरु था। काल के कराल चक्र से संसार का कोई भी देश, जाति, समाज और व्यक्ति सदा एकावस्था में नहीं रहता। इसी अटूट काल-नियम के अनुसार यहाँ के ऋषियों के विमल मस्तिष्क से प्रसूत जो आर्ष-ज्ञान-ज्योति सारे संसार को आलोकित करती थी, वह आर्ष-ज्योति कालान्तर में मन्द पड़ने लगी और धीरे-धीरे सर्वथा क्षीण हो गई। बाहर के देशों को अपने ज्ञान से प्रकाशित करना तो दूर रहा, हमारा देश भी अज्ञानरूपी महान् अन्धकार से पूर्णतया आच्छादित हो गया। उस अज्ञानान्धकार में जिसकी जैसी इच्छा हुई उसी के अनुसार मतमतान्तर खड़ा कर दिया, कोई उससे पूछने वाला भी न रहा कि तू क्या कर रहा है? वेद जो कि आर्यजाति के शिरो-मणि-ग्रन्थ थे, आर्ष-ग्रन्थ जिनसे वैदिक ज्ञान आलोकित होता था, अन्ध-महासागर में निमग्न हो गए।

हमारे वाङ्मय (=साहित्य) में जितने आर्ष-ग्रन्थ हैं, वे सभी विमलमति, सर्वसुहृद्, आप्त ऋषियों द्वारा प्रोक्त, संस्कृत अथवा परिष्कृत हैं। शास्त्रीय ग्रन्थों की सर्वथा अभिनव-रचना किसी ऋषि ने नहीं की।[1] प्रत्येक शास्त्र-प्रवक्ता ऋषि-मुनि ने अपने पूर्ववर्ती शास्त्रों को ही देश-काल और अवस्था के अनुरूप बनाने के लिए उनमें कुछ संस्कार अथवा

---

१. पाणिनि ने सारे वाङ्मय को पाँच विभागों में बाँटा है—दृष्ट, प्रोक्त, उपज्ञात, कृत और व्याख्यान। द्र० अष्टा० अ० ४ पाद २, ३ के एतद्विषयक सूत्र।

परिष्कार मात्र किया। पाणिनीय व्याकरण की उससे प्राचीन व्याकरणों के उपलब्ध सूत्रों[1] के साथ तुलना करने से यह बात सर्वथा स्पष्ट हो जाती है। पाणिनीय शिक्षा और उससे पूर्ववर्ती आपिशलशिक्षा में कुछ पाठ-भेदों और दो-चार सूत्रों के न्यूनाधिक्य के अतिरिक्त कोई भेद नहीं है। अतः सभी शास्त्रीय वाङ्मय प्रोक्त माना जाता है, कृत नहीं।

आर्षयुग में प्रवचन भी आजकल के समान सभी अधिकारी, अनधिकारी, जिसके मन में जैसा आवे, नहीं कर सकता था। प्रत्येक ग्रन्थ सबसे प्रथम ऋषि-समाज के सम्मुख उपस्थित किया जाता था। वहाँ से पारित होने पर लोक में प्रकाशित किया जाता था। यह वृत्त आयुर्वेद की चरकसंहिता के प्रथम अध्याय में सुरक्षित है। पाणिनि और व्याडि आदि आचार्यों को भी इसी प्रकार ऋषि-परिषद् से अनुज्ञा प्राप्त करनी पड़ी थी, यह इतिहास में सुप्रसिद्ध है।

आर्षज्योति की क्षीणता के आरम्भ होने पर मन चले विद्वान् नये-नये अनार्ष ग्रन्थ रचने लगे। उनसे जनता को सावधान करने के लिए उत्तरवर्ती प्रवक्ता अथवा संस्कर्ता मुनियों ने कैसे ग्रन्थ पढ़ने चाहिएँ, कैसे नहीं पढ़ने चाहिएँ, इस रहस्य को स्पष्ट रूप से खोलकर लिखा और आर्ष-ग्रन्थ पढ़ने का आदेश दिया। इस विषय का एक उत्कृष्टतम विवरण वैशम्पायन अपर नाम चरक मुनि द्वारा संस्कृत आयुर्वेदीय चरकसंहिता में उपलब्ध होता है। वहाँ लिखा है—

शास्त्रमेवादितः परीक्षेत। विविधानि हि शास्त्राणि भिषजां प्रचरन्ति लोके। तत्र यन्मन्येत सुमहद् यशस्विधीरपुरुषासेवितम्, अर्थबहुलम्, आप्तजनस्य पूजितम्, त्रिविध शिष्य-

---

1. प्राचीन वैयाकरणों के उपलब्ध सूत्रों का संग्रह हमने अपने 'सं० व्याकरण शास्त्र के इतिहास' में उन उन वैयाकरणों के प्रकरण में किया है।

बुद्धिहितम्, अपगत पुनरुक्तदोषम्, आर्षम्, सुप्रणीतसूत्रभाष्यसंग्रहक्रमम्, स्वाधारम्, अनवपतितशब्दम्, अकष्टशब्दम्, पुष्कलाभिधानम्, क्रमागतार्थम्, अर्थतत्त्वनिश्चयप्रधानम्, संगतार्थम्, असंकुलप्रकरणम्, आशुप्रबोधकम्, लक्षणवच्चोदाहरणवच्च, तदभिप्रपद्येत शास्त्रम्। शास्त्रं ह्येवं विधम् अमल इवादित्यस्तमोविधूय प्रकाशयति सर्वम्। विमान० ८। ३॥

अर्थात्—प्रथम शास्त्र की परीक्षा करे। अनेक प्रकार के शास्त्र वैद्यों के लोक में प्रचलित हैं। उनमें से जिसे समझे कि यह उत्कृष्ट, यशस्वी और धीर पुरुषों से सेवित, पुनरुक्त दोषरहित, ऋषिप्रणीत, सूत्र-भाष्य-संग्रह=क्रमादि द्वारा अच्छे प्रकार प्रणीत, दृढ़ आधारवाला, शब्दपात से रहित, क्लिष्ट शब्द रहित, अधिक अभिप्राय को कहने वाला, क्रम-परम्परा से प्राप्त अर्थ से युक्त, अर्थ=वस्तुतत्त्व के निश्चय की जिसमें प्रधानता हो, संगत अर्थ वाला, विशद प्रकरणवाला, शीघ्र ज्ञान कराने हारा, लक्षण और उदाहरण से युक्त[1] है उस शास्त्र को स्वीकार करे। इसी प्रकार का शास्त्र निर्मल सूर्य के समान अन्धकार को नष्ट करके सब पदार्थों को प्रकाशित करता है।

इस प्रकार जनता को सावधान करने का फल यह हुआ कि जनता की अनार्ष-ग्रन्थों के अध्ययन में अरुचि उत्पन्न हो गई। इससे अनार्ष ग्रन्थों की जो बाढ़ आने वाली थी, वह रुक गई। इस सामयिक चेतावनी का प्रभाव चिरकाल तक रहा। दो सहस्र वर्ष पूर्ववर्ती महावैद्य वाग्भट्ट के काल में भी यह प्रभाव पूर्णरूप में विद्यमान था। इसलिए उसे भय था कि चरक-सुश्रुत आदि आर्षग्रन्थों को छोड़कर मेरे अनार्ष

---

१. तुलना करो—ते वै खल्वपि विधयः सुपरिगृहीता भवन्ति, येषां लक्षणं प्रपंचश्च। केवलं लक्षणं, केवलः प्रपञ्चो वा न तथा कारकं भवति। महाभाष्य ६।३।१४॥

ग्रन्थ को कौन पढ़ेगा ? अतः उसने चरक-सुश्रुत आदि आर्ष-ग्रन्थों की निन्दा करके अपने ग्रन्थ का गौरव बताने का प्रयत्न किया। वह लिखता है—

यदि चरकमधीते तद् ध्रुवं सुश्रुतादि-
प्रणिगदितगदानां नाममात्रेऽपि बाह्यः।
अथ चरकविहीनः प्रक्रियायामखिन्नः
किमिव खलु करोतु व्याधितानां वराकः॥
अभिनिवेशवशादभियुज्यते सुभणि-
तेऽपि नयो दृढमूलकः।
पठतु यत्नपरः पुरुषायुषं
स खलु वैद्यकमाद्यमनिर्विदः॥
ऋषिप्रणीते प्रीतिश्चेन्मुक्त्वा चरकसुश्रुतौ।
भेलाद्याःकिन्न पठ्यन्ते तस्माद् ग्राह्यं सुभाषितम्॥

अर्थात्—यदि चरक को पढ़ता है तो सुश्रुतादि में कहे रोगों के नाम, ज्ञान से भी रहित रहता है। यदि चरक नहीं पढ़ता तो चिकित्सा की प्रक्रिया को न जानने वाला मूर्ख रोगी का क्या उपकार करेगा।

जो दृढ़मूलक (श्रद्धावान्) अभिनिवेश (आर्ष-ग्रन्थ ही पढूँगा, इस धारणा) के कारण अच्छे प्रकार कहे गये (=श्रेष्ठ) ग्रन्थ को भी नहीं पढ़ता, तो वह (मूर्ख) अखिन्न होकर सारी आयु आद्य (ब्रह्माकृत महान्) शास्त्र को पढ़ता रहे।

यदि ऋषिप्रणीत ग्रन्थों के पढ़ने में ही प्रीति है तो चरक और सुश्रुत को छोड़कर भेल आदि (ऋषियों के द्वारा प्रोक्त) तन्त्रों को क्यों नहीं पढ़ते ? इसलिए सुभाषित ग्रन्थ को ही ग्रहण करना चाहिए।

यदि वाग्भट्ट के मन में उक्त भय न होता, तो उसे अपने ग्रन्थ का

महत्त्व, चरक-सुश्रुत की न्यूनता और भेल आदि संहिताओं की असमीचीनता दर्शाने की क्या आवश्यकता थी ?

महाकवि कालिदास के मन में भी यह भय छिपा हुआ था। अतः वह भी मालविकाग्निमित्र के आरम्भ में लिखता है—

पारिपार्श्वकः—मा तावत् , प्रथितयशसां भाससौमिल्लककविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं बहुमानः ?

सूत्रधारः—अयि ! विवेकविश्रान्तमभिहितम् । पश्य ! पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् । सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ।

अर्थात्—पारिपार्श्वक कहता है—यह ठीक नहीं, प्रसिद्ध यशस्वी भास, सौमिल्लक और कविपुत्र के प्रबन्धों (नाटकों) का अतिक्रमण करके वर्तमान कवि कालिदास की कृति (नाटक) में क्यों अति आदर है ?

सूत्रधार उत्तर देता है—अरे ! यह बात विवेक की जिसमें विश्रान्ति हो जाती है ऐसे (अर्थात् मूर्ख)[1] से कही गई है । देखो—जो कुछ पुराना हो वह सब अच्छा नहीं होता, न कोई काव्य नवीन होने से अयुक्त होता है । ज्ञानी लोग परीक्षा करके पुराने और नये में से युक्ततर को स्वीकार करते हैं । मूढ़ ही दूसरे की बुद्धि के पीछे चलने वाले होते हैं ।

यह है कालिदास के मन में स्थित भय का उद्गार । यही अस्त्र आजकल के कम्युनिस्ट भारतीयों को आर्षज्ञान और संस्कृति से पराङ्मुख करने के लिए वर्तते हैं । अस्तु;

इस प्रकार जब अनाप्त लोगों ने आर्ष-ग्रन्थों की निन्दा और उनकी अपूर्णता दर्शाने के लिए प्रयत्न करने आरम्भ किये, तब जनता में आर्षग्रन्थों के अध्ययन की प्रवृत्ति शनैः-शनैः न्यून होने लगी और अनार्ष-

---

१. टीकाकारों ने अन्य अभिप्राय लिखा है ।

ग्रन्थों के अध्ययन की प्रवृत्ति की वृद्धि से अज्ञान की वृद्धि होने लगी। उसका फल यह हुआ कि उन साधारणमति विद्वानों में अभिमान उत्पन्न हुआ और प्रत्येक नया ग्रन्थ लिखने लगा। वेदभाष्य-सम्बन्धी इस प्रवृत्ति का वर्णन ऋग्वेद के भाष्यकार वेङ्कटमाधव ने इस प्रकार किया है—

स्कन्दस्वामी नारायण उद्गीथ इति ते क्रमात्।
चक्रुः सहैकमृग्भाष्यं पदवाक्यार्थगोचरम्॥
भाषमाणास्तमेवार्थमथ सम्प्रतिमानवाः।
मायाविनो लिखन्त्यन्ये व्याख्यानानि गृहे-गृहे॥

अर्थात्—स्कन्दस्वामी, नारायण और उद्गीथ ने मिलकर पद और वाक्य के अर्थ को दर्शाने वाला ऋग्वेद का एक भाष्य लिखा। इस समय मायावी लोग उसी अर्थ को [नए रूप से] कहते हुए घर घर में वेद के भाष्य लिख रहे हैं।

वेङ्कटमाधव ने अपने काल की जिस अवस्था का स्पष्ट चित्र खींचा है, क्या वही अवस्था आज आर्यसमाज की नहीं है? हर एक सभा यही चाहती है कि मैं वेदभाष्य कराऊँ और हर एक विद्वन्मन्य वेद-भाष्य ही लिखना चाहता है। इतना ही नहीं, अपनी अयोग्यता को छिपाने के लिए ये लोग सदा आर्षज्ञान की निन्दा करते हैं। अस्तु;

अनार्ष-ग्रन्थों की बाढ़ से सहस्रों आर्ष-ग्रन्थ लुप्त हो गए, जो कथंचित् शेष रहे उनका भी अध्ययन लुप्त हो गया। वेद के मुख्य अंग व्याकरण, जिसका कथंचित् पठनपाठन अद्ययावत् विद्यमान है, का व्याडिप्रोक्त एक लाख श्लोक परिमाण का "संग्रह" नामक महाग्रन्थ दो सहस्र वर्ष पूर्व ही लुप्त हो चुका था।[1] महाभाष्य जैसे प्रामाणिक और

---

१. प्रायेण संक्षेपरुचीन् अल्पविद्यापरिग्रहान्। संप्राप्य वैयाकरणान् संग्रहेऽस्तमुपागते। वाक्यपदीय २।४८४। विशेष देखिए, सं० व्या० शास्त्र का इतिहास पृष्ठ १९४—२०८।

आकर ग्रन्थ के अध्ययन का अनेक बार लोप हुआ। एक बार विक्रम से लगभग एक सहस्र वर्ष पूर्व (आधुनिक ऐतिहासिकों के मत में विक्रम के आसपास) महाभाष्य के अध्ययन का लोप हुआ था। उस समय काश्मीर के महाराज अभिमन्यु के साहाय्य से आचार्य चन्द्र ने महाभाष्य का उद्धार किया।[1] दूसरी बार विक्रम के पश्चात् पुनः लोप हुआ। इस बार विक्रम की नवम शती के पूर्वार्ध (सं० ८०८–८३६) में कश्मीर के महाराज जयापीड ने देशान्तर से "क्षीर" नामक महा-वैयाकरण को बुलाकर विच्छिन्न महाभाष्य का पुनरुद्धार किया।[2] विक्रम की १५ वीं शती से पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन अष्टाध्यायी के क्रम को छोड़कर प्रक्रिया रूप से लिखे गए प्रक्रियाकौमुदी, सिद्धान्त-कौमुदी आदि ग्रन्थों के अनुसार होने लगा। इस क्रमभंग का फल यह हुआ कि महाभाष्य जैसा दिव्य और सरलतम व्यावहारिक संस्कृत में लिखा गया ग्रन्थ विद्वान् कहे जाने वाले लोगों की समझ से बाहर की वस्तु बन गया और लोगों ने कहना आरम्भ कर दिया—

कौमुदी यदि कण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः।
कौमुदी यद्यकण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः॥

अर्थात्—सिद्धान्तकौमुदी यदि कण्ठस्थ है तो महाभाष्य में श्रम करना व्यर्थ है और यदि कौमुदी कण्ठस्थ नहीं है तो भी महाभाष्य में श्रम करना व्यर्थ है। अर्थात् महाभाष्य पढ़ना बेकार है।

इस बार न केवल एकमात्र महाभाष्य का, अपितु समस्त आर्ष-वाङ्मय का उद्धार एक असहाय कौपीनमात्रधारी परमहंस दण्डी विरजानन्द और उनके शिष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती ने किया। कहाँ

---

१. वाक्यपदीय २। ४८७–४८९। राजतरंगिणी १। १७६॥ देखो सं० व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ २४३, २४९।

२. राजतरङ्गिणी ४।४८८, ४८९॥ सं० व्या० शास्त्र का इतिहास, पृष्ठ २५०।

आचार्य चन्द्र और क्षीर का केवल एकमात्र महाभाष्य का उद्धार सम्राटों की सहायता से करना, और कहाँ सम्पूर्ण आर्षज्योति-आर्षज्ञान-आर्ष-ग्रन्थों का इन कौपीनमात्रधारी सम्राट् साहाय्य रहित परिव्राजकों द्वारा उद्धार होना। निस्सन्देह यह महान् कार्य सम्राटों के सम्राट्, सर्वशक्तिमान् परब्रह्म के साहाय्य से परिव्राट् ही कर सकते थे, यहाँ क्षुद्र सम्राटों के साहाय्य से कृतकार्यता असम्भव थी। अस्तु;

उक्त अवस्था तो वेद के उस अङ्ग की हुई, जो सबसे प्रधान माना जाता है और कथंचित् पढ़ा जाता रहा है, अन्यों का तो कहना ही क्या। ऐसे घोर अनार्ष काल में श्रीदण्डी विरजानन्द का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने प्रचलित पाठ्यग्रन्थों में पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त करके तात्कालिक विद्वत्-समाज में मूर्धन्य स्थान प्राप्त किया। तत्पश्चात् उनके हृदय में दैवी प्रेरणा से आर्षज्ञान की ज्योति सहसा प्रकट हुई। ऋषि-र्दर्शनात् नियम के अनुसार उन्होंने उक्त महान् सत्य को प्रत्यक्ष कर ऋषित्व प्राप्त किया और उसमें दीक्षित होकर आजन्म इस आर्ष-ज्योति-उपस्थान रूप महासत्र को धारण किया।

इस आर्ष युग में उनके पास अनेक शिष्य आए, परन्तु उनमें से किसी में इस चकाचौंध को उत्पन्न करने हारी दिव्यज्योति की असह्यता को सहन करने की शक्ति नहीं थी। गुरुवर इस बात से पूर्ण विज्ञ थे। वे चिन्तित थे कि ये साधारण छात्र इस ज्योति को धारण ही नहीं कर सकते, तब भला ये इसको कैसे प्रज्वलित और प्रसारित करेंगे। इस दिव्य ज्योति को धारण करने वाला, कालकूट को पान करने वाले महादेव के समान कोई महात्मा ही हो सकता है। गुरुवर के जीवन के अन्तिम चरण में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उनकी कुटिया में पैर रखा। लौकिक रत्नों के महापारखी[1] विरजानन्द अलौकिक

---

१. आँखों से विहीन होने पर भी उनमें रत्न-परीक्षा की अलौकिक क्षमता थी। [यह इसी जीवन-चरित में पढ़ने से मिलेगा।]

रत्नों की परख में भी असाधारण क्षमता रखते थे। उन्होंने दयानन्द का परिचय प्राप्त करते ही भांप लिया कि यह मेरे द्वारा सतत प्रज्वलित रखी गई आर्ष-ज्योति को पूर्णात्मना धारण कर सकता है। फिर क्या था, गुरुवर ने चिन्तामुक्त होकर अपने इस नये शिष्य में चिरकाल-आराधित आर्षज्योति को अतिस्वल्पकाल में पूर्णरूप से संचारित कर दिया। इस परम दिव्य आर्षज्योति को दयानन्द में संचारित करके जहाँ गुरुवर विरजानन्द चिन्तामुक्त हो गए, वहाँ स्वामी दयानन्द भी इस आर्षज्योति को प्राप्त कर उसकी दिव्यता से प्रकाशित अन्तःकरण होकर स्वयं भी ऋषि बन गए।

ऋषि दयानन्द सरस्वती ने स्वगुरु से प्राप्त आर्षज्योति को अपने तप और त्याग से पूर्णरूपेण उद्दीप्त किया। इसे सतत प्रज्वलित रखने और प्रसारित करने की आज्ञा अपने अनुयायियों को देकर महर्षि ने अकाल में ही इहलोक से प्रयाण किया।

आर्यसमाज में उन दिनों श्री पं० गुरुदत्तजी को छोड़ कर कोई दूसरा उस आर्षज्योति को धारण करने की पूर्ण क्षमता नहीं रखता था। ऋषि को भी पं० गुरुदत्त से ही विशेष आशा थी। इसलिए उन्होंने अपने अन्तिम समय में अद्भुत और अनिर्वचनीय रूप योगबल से पं० गुरुदत्त के हृदय में आर्षज्योति का संचार किया। उस आर्षज्योति-प्रकाश से उनका कट्टर नास्तिकपना, जो उत्कृष्टतम था और प्रमाणों से दूर न हुआ था, क्षणभर में शशश्रृङ्गवत् विलुप्त हो गया। परन्तु आर्य-जाति को दुर्भाग्य के दिन अभी देखने बाकी थे, इस कारण पं० गुरुदत्त का अतिस्वल्पायु में ही स्वर्गवास हो गया।

आर्यसमाज के स्वर्णयुग के श्री पं० लेखरामजी, महात्मा हंसराजजी, श्री स्वा० दर्शनानन्द जी, श्री स्वा० श्रद्धानन्द जी, श्री स्वा० तुलसीराम जी, श्री पं० आर्यमुनिजी, श्री पं० शिवशङ्करजी प्रभृति महानुभावों ने अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार उस आर्षज्योति को जगमगाए रखने का

भरसक प्रयत्न किया, परन्तु उस आर्षज्योति का प्रकाश शनैः शनैः मध्यम पड़ने लगा। अब तो वह यत्र-तत्र टिमटिमाता मात्र रह गया है। वर्तमान पीढ़ी के ये महानुभाव (पं० भगवद्दत्त, पं० ब्रह्मदत्त, पं० शंकरदेव, पं० उदयवीर, पं० विश्वश्रवा प्रभृति) जिनमें आर्षज्योति का कुछ प्रकाश विद्यमान है, महाप्रयाण कर गए तो सर्वथा लुप्त हो जाएगा; पुनः सदियों ही नहीं, सहस्राब्दों में जब किसी विरजानन्द अथवा दयानन्द का प्रादुर्भाव होगा, तभी यह पुनः प्राप्त हो सकेगी। इस सबका महापाप वर्तमान के उन आर्यसमाजी नेताओं और अधिकारियों को लगेगा जो इस आर्षज्योति को कथंचित् धारण किए हुए इन तपस्वियों की स्वाधिकार-मदवश अवहेलना कर रहे हैं। अस्तु;

आर्यसमाज ने वेदों के प्रचार के लिए अनेक पाठशालाएँ खोलीं, अनेक गुरुकुल चलाए। परन्तु उनमें से किसमें आर्ष-ग्रन्थों का पठन-पाठन हो रहा है? उन आर्ष-ग्रन्थों को, जिन्हें पढ़ने की मनु से लेकर दयानन्द पर्यन्त सभी ऋषि-मुनि आज्ञा करते रहे, पठन-पाठन न होने से, आर्षज्योति से विहीन होने के कारण हमारी पाठशालाओं और गुरुकुलों के छात्र नास्तिक अथवा अर्ध-नास्तिक और वैदिक आर्ष-ग्रन्थों के वास्तविक ज्ञान से रहित उत्पन्न हो रहे हैं।

दूसरी ओर आर्ष-ज्योति के नाश और अज्ञान की वृद्धि करने के लिए स्कूल और कालेजों के रूप में हम अत्युत्साह से प्रयत्न कर रहे हैं। और विशेषता यह है कि हम अपने को आर्षज्योति-प्रसारक महर्षि का अनुयायी कहते हुए उनसे बहुधा साक्षात् प्रतिषिद्ध अंग्रेजी के पठन-पाठनरूप मार्ग का पूर्ण प्रयत्न से अनुसरण करते हुए यत्किञ्चित् लज्जा अनुभव नहीं करते, यह है हमारी धृष्टता की पराकाष्ठा। देखिए आर्ष-ज्योति की महत्ता को समझने वाला दयानन्द क्या कहता है—

आप लोगों की पाठशाला में आर्यभाषा संस्कृत का प्रचार बहुत कम और अन्यभाषा अंग्रेजी व उर्दू, फारसी अधिक पढ़ाई

जाती है।......यह हज़ारह मुद्रा का व्यय संस्कृत की ओर से निष्फल होता भासता है।......बहुत काल से आर्यावर्त्त में संस्कृत का अभाव हो रहा है, वरन् संस्कृतरूपी मातृभाषा की जगह अंग्रेजी लोगों की मातृभाषा हो चली है।......इस [अंग्रेजी] की वृद्धि में हम तुम को आवश्यकता नहीं दीखती।

पत्र और विज्ञापन पृष्ठ २९० द्वि० सं०।

तुम्हारी पाठशाला में अलिफ बे और कैटवैट की भर्मार है जो कि आर्यसमाज का कर्तव्य नहीं।

पत्र और विज्ञापन पृष्ठ ४०५ द्वि० सं०।

ऐसे उद्गार महर्षि ने अपने अनेक पत्रों में प्रकट किए हैं। ऊपर केवल निदर्शनार्थ दो स्थल उपस्थित किए हैं।[1]

आज सहस्रों आर्यसमाजें हैं, कई प्रतिनिधि सभाएँ हैं, सार्वदेशिक सभा है, स्वयं ऋषि के द्वारा संस्थापित उनकी उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा है। इनमें से किसके द्वारा ऋषि की देनरूप जो आर्ष-ज्योति है, उसे प्रज्वलित रखने के लिए प्रयत्न किया जा रहा है। किस आर्षज्योति-सम्पन्न विद्वान् को ये सभाएँ अहरहर्बलिमित्ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने[2] की वैदिक भावना के अनुसार निस्स्वार्थ

---

१. जो वास्तविक रूप में इस विषय में अधिक जानना चाहते हैं वे ऋषि के पत्र और विज्ञापन की श्री पं० भगवद्दत्त जी लिखित भूमिका पढ़ें और ठण्डे मस्तिष्क से उस पर विचार करें।

२. जैसे किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए राजकीय अश्व-शालाओं के घोड़े, तांगा हाँकने वाले के घोड़े के समान नित्य का मेहनताना न चुकाकर भी खड़े-खड़े (बिना काम किए) उत्तम-उत्तम पदार्थों को प्राप्त होते हैं। उसी प्रकार विद्वानों को निर्वाह की सामग्री देनी चाहिए।

भाव से केवल आर्षज्योति को जगमगाए रखने के लिए सहयोग दे रही है ? ये प्रश्न हैं, जिनका उत्तर सर्वथा नकारात्मक है। इस दृष्टि से हमारा, ऋषि के अनुयायी होने का दम्भ भरने वाले हम आर्य लोगों का, इतिहास पूर्ण निराशा का इतिहास है।

आर्ष-ग्रन्थों के अध्ययनाध्यापन, अनुवाद, और प्रसार की बात[1] तो दूर रही, ऋषि के ग्रन्थों का ही शुद्ध और दिव्य, नहीं-नहीं, गीता प्रेस गोरखपुर जैसा साधारण संस्करण भी हम प्रकाशित नहीं कर सके।

गत १०० वर्षों में सायण का ऋग्वेदभाष्य दो बार पूर्ण प्रयत्न से छपकर प्रकाशित हुआ। प्रथम बार मैक्समूलर ने अपनी आयु का अधिकतम भाग लगाकर और लगभग एक लाख रुपया व्यय करके उत्तम संस्करण तैयार किया था। तत्पश्चात् पूना के 'वैदिक संशोधन मण्डल' द्वारा लगभग ३० वर्ष के प्रयत्न और लगभग तीन लाख के व्यय से उसका पुनः परिशोधित संस्करण प्रकाशित किया गया।

इसकी तुलना में हमारे प्रकाशनों की गति इससे सर्वथा उलटी हुई। प्रत्येक ग्रन्थ के प्रत्येक नये संस्करण में न केवल अशुद्धियाँ ही बढ़ीं, अपितु पाठ भी परिवर्तित होते चले गए। हमारी संस्थाओं, सभाओं और आर्यसमाजों के पास द्रव्य की कमी नहीं। देहली की प्रत्येक बड़ी समाज अपने वार्षिक उत्सव में ३०-४०-५० हजार रुपए तक तीन दिन की तड़क-भड़क में आतिशबाजी के समान फूँक देती है। न्यूनता है वास्तव में आर्षज्ञान की, उसके प्रचार के लिए कटिबद्ध होने की, उस पर विश्वास और श्रद्धा की, उसकी आवश्यकता को अनुभव करने की। अन्यथा अकेले देहली की १०० समाजों के जो कि

---

१. वेद और वेदाङ्गादि शास्त्रों के प्रचार अर्थात् उनकी व्याख्या करने-कराने, पढ़ने-पढ़ाने, सुनने-सुनाने, छापने-छपवाने आदि में व्यय करना। ऋषि का स्वीकार पत्र, जो परोपकारिणी सभा के नाम लिखा गया। ऋ० प० पत्र और विज्ञापन पृष्ठ ३८८।

अपने उत्सवों पर प्रतिवर्ष लगभग ८-१० लाख रुपया व्यय करती है, केवल एक वर्ष के उत्सव के व्यय से महान् कार्य हो सकता है।

दूसरा कारण संस्थाओं का, और वह भी स्कूल-कालेज जैसी निरर्थक, निष्प्रयोजन, समाज के सिद्धान्त के विपरीत, अज्ञान का प्रसार करने वाली संस्थाओं का मोह है। किसी भी शुभ प्रवृत्ति का आरम्भ होते ही, उसके अङ्कुर के प्रस्फुटन से पूर्व ही, ये स्कूल-कालेजरूपी महा-रोग उसे नष्ट कर देते हैं। सम्पूर्ण द्रव्य और शक्ति को आत्मसात् करके पाश्चात्य मत के अनुयायी भारतीय सभ्यता और वाङ्मय की निन्दा और उपहास करने वाले कृष्णचर्म योरोपियन उत्पन्न करते हैं, और हम उन्हीं जैसे लोगों से की गई स्तुति नहीं निन्दा से अपने को अहोभाग्य समझते हुए सब शुभ प्रवृत्तियों को रोककर, इस पाप-प्रवृत्ति में सर्वात्मना लिप्त हुए जाते हैं। अस्तु;

आज सहस्राब्दों के अनन्तर आर्षज्योति के साक्षात् कर्ता, उसके सर्वात्मना आराधक, उद्धारक और प्रसारक गुरुवर श्रीदण्डी विरजानन्द जी के पावक चरित को आर्य जनता के करकमलों में समर्पित करते हुए परम हर्ष हो रहा है। इस ग्रन्थ के लेखक श्री प्रो० भीमसेनजी शास्त्री एम. ए., एम. ओ. एल. गुरुवर श्रीदण्डी विरजानन्द के परमभक्त हैं। आपको संसार की इस अद्भुत विभूति के वास्तविक चरित की न्यूनता चिरकाल से खटकती थी। इसलिए "जो बोले सो कुण्डा खोले" आभाणक के अनुसार आपको ही इस साधन रहित होने पर भी महान् कार्य के लिए प्रयत्न और पुरुषार्थ करना पड़ा (जो न्यूनता को अनुभव ही नहीं करता, भला उसे क्या पड़ी है कि वह ऐसे अनुसन्धान कार्यों में होने वाले कष्टों को सहन करे।) आपने इस कार्य के अनुसन्धान के लिए अनेक स्थानों की यात्रा की, एक-एक स्थान पर कई बार गए। इस प्रकार महान् प्रयत्न करने से जो सामग्री संगृहीत हुई, उसीके आधार पर यह ग्रन्थ लिखा गया है। यह गुरुवर का प्रथम चरित है जिसमें प्रथम

बार सब घटनाएं तिथि संवत् के अनुसार क्रमपूर्वक लिखी गई हैं। पुराने चरितों में न केवल निश्चित तिथियों का ही अभाव था, अपितु वे प्रायः किंवदन्तियों के संग्रह मात्र थे।

श्री माननीय शास्त्रीजी जीवन चरित लिखने के पश्चात् उसके प्रकाशन के लिये चिन्तातुर थे। वे स्वयं प्रकाशन नहीं कर सकते थे। इसलिए ऋषि के परम भक्त, आर्ष ज्योति से पवित्र-अन्तःकरण श्री मामराजजी ने इस ग्रन्थ के लिखने और प्रकाशन के लिए ३००) रुपए परावर्तनीय रूप में देकर महान् साहाय्य प्रदान किया। वस्तुतः इस ग्रन्थ के प्रकाशन का सारा श्रेय श्री मा० मामराजजी को ही है। यदि वे श्री मा० शास्त्रीजी को समय-समय पर प्रोत्साहित न करते तो इस ग्रन्थ की भी सम्भवतः वही गति होती जो महायशस्वी—दिव्य चरित लेखक श्री देवेन्द्र बाबू द्वारा संगृहीत ऋषि चरित की हुई।

श्री माननीय शास्त्रीजी ने अगस्त के अन्त में मुझे इस महान् उपयोगी ग्रन्थ के प्रकाशन की व्यवस्था करने को लिखा। मेरा उनके साथ घनिष्ठ संबन्ध है। अतः मैं उनके परिश्रम से भले प्रकार परिचित था और इस महनीय चरित के चरित की महत्ता से विज्ञ था। इसलिए मैंने अति स्वल्प समय में इसके प्रकाशन की व्यवस्था का भार अपने ऊपर लिया। समय बहुत न्यून था। उसपर भी रुग्णता के कारण श्री शास्त्रीजी को प्रेसकापी भेजने में विलम्ब हो गया। उन्होंने १४ सितम्बर को प्रेस कापी भेजी।

काशी के श्रेष्ठतम मुद्रणालयों में अन्यतम ज्योतिष प्रकाश प्रेस के स्वामी श्री माननीय पं० बालकृष्ण जी शास्त्री की मुझ पर सदा कृपा रहती है। मेरे किसी अनुरोध को वे नहीं टालते। इसी कारण अति स्वल्प समय होने पर, श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट के विशिष्ट ग्रन्थों के इसी काल में प्रकाशित करने का भार, तथा स्वीय पञ्चाङ्ग के प्रकाशित करने का समय होने पर भी आपने इस कार्य को एक मास के अल्पकाल में

मुद्रित करके प्रस्तुत कर दिया। इसके लिए मैं आपका जितना धन्यवाद करूँ, स्वल्प है।

भूमिका कुछ लम्बी हो गई। अतः इसे यहीं समाप्त करना उचित है। इस ग्रन्थ में शीघ्रता में कापी तैयार करने तथा मुद्रण कार्य के होने से जो विविध प्रकार की न्यूनताएँ रही हैं उनके लिए क्षमा चाहता हूँ। अगले संस्करण में सब कमियों को पूरा करने का प्रयत्न किया जाएगा।

स्थायी पता—
मु० पो० विरंच्यावास
(बिरकच्यावास)
जि० अजमेर (राजस्थान)
सं. २०१६ आश्विन शु० ६

विदुषां वशंवद :—
युधिष्ठिर मीमांसक
अध्यक्ष—अनुसन्धानविभाग
महर्षि दयानन्द स्मारक
टंकारा (सौराष्ट्र)

प्राग्वचन

ॐ स नः पितेव सूनवे ऽग्ने सूपायनो भव सचस्वा नः स्वस्तये
ऋग्वेद १।१।२।

सर्वज्ञो वेद-दाता च सर्व-जीव-दयामयः ।
सर्वाऽऽनन्दनिधिर्नित्यं सर्वं श्रेयो ददात्वजः ॥१॥
मुनिं श्री विरजानन्द मार्ष-ग्रन्थ-प्रचारकम् ।
ऋषि-श्रेष्ठं दयानन्दं श्रद्धया नौमि सर्वदा ॥२॥
जननीं गोमती-देवीं जीवारामं तनूसृजम् ।
आचार्यं शुद्धबोधं च भक्त्या प्रीत्या स्मराम्यहम् ॥३॥
भक्तानां सुख-बोधाय भीमसेन-मनीषिणा ।
कथा श्री-विरजानन्द स्येयं तन्वी वितन्यते ॥४॥

मुनि-वर विरजानन्द और ऋषि-श्रेष्ठ दयानन्द अलौकिक महा-मानव थे। इन महा-पुरुषों के चरितों का अवगाहन और निबन्धन तो कोई ब्रह्मचारी योगी दार्शनिक महाकवि ही कर सकेगा। मेरे जैसे क्षुद्र पुरुष से तो यह अंश रूप में भी अशक्य है। तथापि ऐसे समर्थ वन्दनीय पुरुषों के लिये सामग्री जुटाने में यथाशक्ति उद्योग करना अपना पुनीत कर्तव्य जान, यह मेरा तुच्छ प्रयत्न है।

अपवाद तो हर बात के होते हैं, पर साधारणतया मुनिविरजानन्द के प्रति आर्यसमाज (या न्यूनतः नेताओं) में अक्षम्य उपेक्षा है। आर्यसमाज उस महोपकारी मुनिवर की गुणावली के स्मरणार्थ एक दिन भी नियत करना नहीं चाहता। दयानन्द का रोम-रोम जिस विरजानन्द पर न्यौछावर था, जिसके आदेश के पालन से ही आर्यसमाज अस्तित्व में आया, आर्यसमाज की उस महापुरुष के प्रति असाधारण उपेक्षा

कितना घोर पाप है; उस ओर ध्यान न देना कितना विकट अ-विवेक है; इसे नेतृगण विचारने की कृपा करें। साधारण जनता के विषय में तो हम क्या कहें। वे तो "अन्धेन नीयमाना यथाऽन्धाः" अथवा 'मुर्दा बदस्त ज़िन्दा' के उदाहरण मात्र हैं।

विरजानन्द की जीवनी अब तक कुछ घटनाओं सम्बन्धी दन्त-कथाओं का संग्रह-मात्र रही है। काल निर्णय तो दूर रहा, अनेक घटनाओं का पौर्वापर्य-क्रम भी निश्चित नहीं था। तिथिनाम से तो केवल निर्वाण तिथि ही निश्चित रूप में ज्ञात थी, जन्म के संवत् विषय में भी तीव्र मतभेद रहा है। काशी-गमन, अलवर-गमन, मथुरा-गमन, आर्ष-युग-प्रवृत्ति जैसी महत्त्वपूर्ण घटनाओं का काल सर्वथा अविज्ञात था। अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओं के काल के विषय में घोरन्तर भ्रान्ति का साम्राज्य रहा है। यथा—'सं० १८९३ में मथुरा गए' (लेखराम) 'सं० १९०० में तथा कुछ समय पूर्व और पश्चात् अलवर में थे' (मुखोपाध्याय)। ये भ्रान्त धारणाएँ, जो कि मेरे हृदय में भी बद्ध-मूल थीं, सत्य की खोज में बाधक थीं। यह परमपिता की महती दया है कि अब प्रायः सारी महत्त्वपूर्ण घटनाओं का संवत् निर्णय हो चुका है। किसी-किसी का मास अथवा ऋतु भी। स्थान संकोच से इस लघु-पुस्तिका में हम काल-सम्बन्धी विवेचन नहीं दे सके हैं। यह बृहद् विरजानन्द प्रकाश के लिये छोड़ देना पड़ा है। तथापि हम यहाँ बता देना चाहते हैं कि किन-किन घटनाओं का काल निश्चित है—

जन्म	सं० १८३५	(खी० १७७८ का अन्त)
गृहत्याग	सं० १८४८	(” १७९१)
हृषीकेश-तप	सं० १८५०-५३	(” १७९३—९६)
काशी पहुँचना	सं० १८५७	(” १८००)

काशी पण्डित-सभा की सदस्यता सं० १८६५ (खी० १८०८) से कुछ पूर्व।

अलवर-गमन	सं० १८८९ वैशाख वदी (खी० १८३२ अप्रैल का उत्तरार्ध)
मथुरागमन	सं० १९०२ (खी० १८४५)
आर्ष-युग प्रवृत्ति	सं० १९१६ (खी० १८५९)
दयानन्दाध्ययन	सं० १९१७–१९ (खी० १८६०–१८६३ का आरम्भ)
उदय-प्रकाश अध्ययनारम्भ	सं० १९२० या २१ (खी० १८६३ या ६४)
निर्वाण	सं० १९२५ (खी० आश्विन व. १३ सोम (१४-९-१८६८)

हमने जिन शास्त्रार्थों व सभाओं के संवत् दिये हैं वे भी निश्चित हैं।

इनके अतिरिक्त और जो थोड़े से संवत् हैं (यथा काशी से गया-गमन, कलिकाता-निवास, सोरों के प्रथम निवास का आरम्भ)—वे कल्पना पर आश्रित हैं, उनके लिये निश्चयात्मक सामग्री हमारे पास नहीं है। उनके विषय में विद्वज्जन और विचार तथा खोज करें।

सर्वत्र तीर्थ-पुरोहितों से अच्छी खोज की जाय तो सम्भव है कुछ अन्य अत्युपयोगी घटना-काल ज्ञात हो जायँ।

स्थानाभावादि के कारण हमें, संवादों आदि में भी बहुत संक्षेप से काम लेना पड़ा है। ये सब बातें पूर्णमात्रा में बृहद् विरजानन्द प्रकाश में ही दी जा सकेंगी।

वाचक देखेंगे कि इस पुस्तिका में पूर्व विज्ञात घटनाओं का अधिक विशद चित्रण है, तथा अभिनव सामग्री भी पर्याप्त है।

दण्डीजी के योग्य शिष्य पं० उदयप्रकाशजी (जन्म सं० १८८४ = खी० १८२७) के छोटे पुत्र स्वर्गीय पं० मुकुन्ददेवजी (जन्म सं० १९१० कार्तिक कृ० १० गुरु = २७–१०–१८५३) ने दण्डीजी की एक जीवनी लिखी थी। यह अब तक अप्रकाशित है। इस जीवनी के अपूर्ण अवस्था में प्रथम दर्शन मैंने सं० १९७८ पौष कृष्णपक्ष के मध्य (खी.

१९२१ दिसम्बर) में किये थे। इस जीवनी का लेखन उपर्युक्त संवत् में अथवा कुछ पूर्व प्रारम्भ हुआ होगा। यह सं० १९८१ पौष पूर्णिमा (दूसरी) शनिवार (१०–१–१९२५) अर्थात् मथुरा के दयानन्द जन्म शताब्दी उत्सव से कुछ पूर्व समाप्त हुई। जीवनी-लेखक का, दो वर्ष पश्चात् सं० १९८४ वैशाख कृ० १३ शुक्र, २९–४–१९२७ को स्वर्गवास हो गया।

उपर्युक्त बुधवर्य के उत्तराधिकारी, उनके भतीजे, श्री पं० सुधाधर-देवजी गोस्वामी (जन्म सं० १९४८ माघ शु० १४, गुरु, ११–२–१८९२) बहुत साधु-स्वभाव हैं तथा बड़े दयानन्द भक्त हैं। वे अपने पिता श्री पं० नन्दकिशोरदेवजी के सुयोग्य पुत्र हैं। इन्हीं की प्रेरणा से उपर्युक्त जीवनी लिखी गई थी।

मैंने श्री गोस्वामी सुधाधरदेवजी से यह जीवनी मुझे देने की प्रार्थना की। प्रसङ्ग कठिन था। यतः कहा है—

'लेखनी पुस्तकं नारी, पर-हस्त-गता गता।
आगता यदि भाग्येन नष्टाभ्रष्टा च खण्डिता॥
'तैलाद् रक्षेज् जलाद् रक्षेद् रक्षेच् छिथिल-बन्धनात्।
परहस्ते न दातव्यमेतद् वदति पुस्तकम्॥'

मैं अपनी बहु-संख्यक पुस्तकें दूसरों को देकर खो चुका हूँ, अतः अब मुझे दूसरों को पुस्तक देने में अति संकोच होता है। पर इन महानुभाव ने वह हस्तलेख मुझ अपरिचित व्यक्ति को देना स्वीकार कर लिया। पुस्तक अमृतसर पड़ी थी, उसे मथुरा पहुँचकर, मुझ तक कोटा पहुँचने में ४ वर्ष लगे। इस अन्तराल में, यदा-कदा मिलते रहने से गोस्वामीजी का प्रेम और भी बढ़ गया। गोस्वामीजी ने पुस्तक प्रकाशित करने का अधिकार भी मुझे देने की कृपा की। अनेक कठिनाइयों से मैं उसके प्रकाशन की व्यवस्था न कर सका। तीन वर्ष तक

वह लेख मेरे पास रहा। तदनन्तर श्री गोस्वामीजी की आज्ञा होने पर, वह मैंने उन्हें वापिस कर दिया। उसकी लिपि स्वोपयोगार्थ अपने पास रखी।

उपर्युक्त ग्रन्थ में बहुत-सी नवीन सामग्री है, और मेरी इस तुच्छ भेंट में, जो अभिनव सामग्री है, उसका अधिकांश उससे प्राप्त है। पिछले युग के पण्डित महानुभाव सम्पादन-कला से प्रायः अनभिज्ञ होते थे। घटनाओं का विश्लेषण, परीक्षण, काल-क्रम से व्यवस्थापन आदि प्रक्रियायें उनके वश से बहिर्भूत थीं। अपनी रचना के पारस्परिक विरोधों का भी उन्हें पता नहीं चलता था। पण्डित मुकुन्ददेवजी ने यथाश्रुत अनुश्रुतियों का उत्तम निबन्धन कर दिया है। यही मेरे लिये बहुमूल्य थाती रही। इसके लिये मैं स्वर्गीय पं० मुकुन्ददेवजी तथा श्री गोस्वामी सुधाधरदेवजी का अत्यन्त आभारी हूँ।

इस कार्य के सम्बन्ध में, दूसरे स्थान पर स्मरणीय, ऋषि-भक्त महाशय मामराजजी हैं। इनके जीवन का बड़ा भाग, बड़ी निष्ठापूर्वक, महर्षि के पत्र-व्यवहार आदि की खोज में लगा है। इनकी विशेष प्रेरणा से संवत् २०११ में खोज के लिये अलवर, भरतपुर, मथुरा, सोरों आदि की यात्रा की थी। इस यात्रा से श्री दण्डीजी के सोरों से अलवर जाने के समय का ज्ञान हुआ, कुछ अन्य नई सामग्रियाँ भी प्राप्त हुईं और पूर्व प्रकाशित सामग्री की कुछ भयंकर अशुद्धियों का ज्ञान हुआ। साथ ही इस यात्रा ने मुझे गोस्वामी तुलसीदासजी की जन्मभूमि के यथार्थ ज्ञान में सहायक बन उपकृत किया।

अलवर के महान् अन्वेषक श्री पं० रामदत्तजी से अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात हुईं। वे सदा मेरे साहाय्यार्थ संनद्ध रहे हैं और इस ग्रन्थ की सामग्री में उनका भी महत्त्वपूर्ण अनुदान है।

कासगंज के श्री पं० देवव्रतजी आयुर्वेदाचार्य से भी अनेक बातें ज्ञात हुईं। मैं कासगंज में बीमार पहुँचा था। उन्होंने चिकित्सा भी की,

आगे को भी औषध दी। मेरी खोज में आवश्यक प्रच्छाओं का वे अब भी यथाशक्ति समाधान को तत्पर रहते हैं।

मेरी पाँच वर्ष पूर्व की यात्रा में, जयपुर में, रणजीतसिंहजी बड़े सहायक रहे। सर्वत्र मेरे साथ घूमते फिरे। प्रो० प्रेमबहादुरजी भी अपने अलवर निवास-काल में (सं० २०११ व १२) पर्याप्त प्रयत्न-परायण रहे।

स्वर्गीय स्वामी वेदानन्द जी तीर्थ मेरे ऊपर बड़े कृपालु थे। उपर्युक्त यात्रा से पूर्व ही मुझे उनका अनर्घ आशीर्वाद प्राप्त हुआ था। उनके असमय स्वर्गवास से आर्यसमाज की अतर्कनीय हानि हुई है। वे यदि विद्यमान होते तो इस पुस्तिका को देखकर अतीव प्रमुदित होते। महा-बली काल पर किसका वश है। कर्म-विपाक अनतिक्रमणीय है।

जो सामग्री मेरे सामने थी, वह इतनी अव्यवस्थित तथा कालादि सम्बन्धी अशुद्धियों से इतनी परिपूर्ण थी कि मुझ जैसे अल्पाल्प-योग्यता-शक्ति तथा साधन वाले को पर्याप्त काल अपेक्षित था। इस मध्य में सं० २०१२, अधिक भाद्रपद शु० ९ शुक्रवार (२६–८–१९५५) को देहली में श्री मामराजजी से भेंट हुई। उन्होंने जीवनी के शीघ्र लिखने का प्रबल अनुरोध किया। मैंने उन्हें वचन दिया कि 'आगामी ग्रीष्म ऋतु में लिखूँगा'।

सं० २०१३ के वैशाख व ज्येष्ठमास (खी० १९५६ मई-जून) में, मैं आर्यसमाज किशनपोल बाज़ार जयपुर में ठहरा। उस समय श्री विजयबिहारी लालजी माथुर एम० ए० मन्त्री थे। उनके सौजन्य से, मैं समाज में दो मास बिना किराए रहता हुआ भी, जितने सुखपूर्वक रहा, उससे मैं वर्तमान किराएदारी की परिस्थिति की तुलना करता हुआ, उपर्युक्त मन्त्रीजी का बहुत धन्यवाद करता हूँ। इसी समय में, इस जीवनी का बहुत कुछ स्वरूप निर्माण हो गया था। अगले अध्ययन-मनन और नव-प्राप्त सामग्री से उसका परिष्कार होता रहा।

आर्यसमाज किशनपोल (जयपुर) के साप्ताहिक सत्संगों में सं० २०१४, १२, १८ (सायन सौर = ९—३—१९५८ खी०) से २०१५-५-५ (२७, ७, ५८) तक विरजानन्द जीवनी की कथा की। इस समय इस पर और मनन व परिष्कार हुआ। कुछ अंश लिखना शेष था, वह भी लिखा गया।

लेखनसमाप्ति पर मैंने श्री मामराजजी को सूचना दी। तब से वे निरन्तर इसे शीघ्र मुद्रित कराने को आग्रह कर रहे हैं। उनकी सतत प्रेरणा बिना यह कार्य न जाने कब तक टलता रहता। उषा बुकडिपो जयपुर के स्वामी मेरे सहाध्यायी व मित्र श्री शान्तिनाथ जी बी० ए०, भी निरन्तर प्रोत्साहन देते रहे हैं।

पूर्व जीवनी—लेखक श्री पं० लेखरामजी तथा श्री पं० देवेन्द्रनाथजी मुखोपाध्याय का सम्पूर्ण आर्यजगत् ऋणी है। ये दोनों इस क्षेत्र में प्रथम कार्यकर्त्ता थे।

मेरे गुरुवर्य श्री स्व० शुद्धबोधजी तीर्थ, दण्डीजी के परम्परा के एक उज्ज्वल रत्न थे। विरजानन्द-उदयप्रकाश शास्त्रार्थ की घटना मुझे उनके ही श्रीमुख से, अपने ज्वालापुर अध्ययनकाल में, सं० १९८१ (खी० १९२४) में ज्ञात हुई थी। इस पुस्तक के लेखन-काल में मुझे उनका सदैव स्मरण रहा है। उन्हीं की शिष्यता से, यह तुच्छ व्यक्ति भी विरजानन्द कुटुम्ब का एक अङ्ग बना है। गुरु-मूर्धन्य का संक्षिप्त वर्णन मैं पुस्तकान्त में परिशिष्ट रूप में दे रहा हूँ। यह विरजानन्द-जीवनी उन्हीं की पुनीत स्मृति में समर्पित है।

इस संक्षिप्त पुस्तिका में, मैं, दण्डीजी की संकल्पित सार्वभौम सभा का विवरण-पत्र नहीं दे रहा हूँ। उसका उद्देश्य तो संक्षेप में आ ही गया है।

परमपिता की महती कृपा से अब यह तुच्छ भेंट मुद्रण-यन्त्र में जाने योग्य हो गई है।

एक बात और भी। आर्य-भक्तों व नेताओं में अज्ञान और अविवेक की मात्रा बुरी तरह बढ़ती जा रही है। जो भक्त हैं उन्हें ठीक मार्ग दिखाने वालों का अभाव है। विद्वज्जन गङ्गापुर के स्थान में कर्तारपुर को विरजानन्द की जन्मभूमि मान बैठे हैं—किमाश्चर्यमतः परम् !!! कितनी क्षिप्रकारिता है कि पचास सहस्र मुद्रा व्यय करके वहाँ स्मारक भी बन गया !!!

विरजानन्द और दयानन्द की जीवनियाँ अभी शुद्ध रूप में नहीं आ सकी हैं। इस विषय में अभी खोज की पर्याप्त आवश्यकता है। वृद्धजन विदा हो चुके हैं। रहे सहे भी जा रहे हैं। बहुत अतिकाल हो चुका है। पर जो कार्य अब भी हो सकता है, वह आगे न हो सकेगा।

कितना अच्छा होता कि अफ्रीका-निवासी भक्त बदरीनाथजी के कर्त्तारपुर में लगे पचास सहस्र रुपये, ईंट पत्थर में न लगकर खोज में लगते और जीवनियाँ शुद्धरूप में संसार के सामने आतीं। जीवनियों में मुख्य-मुख्य घटनाओं तक के वर्णन में अशुद्धियाँ भरी पड़ी हैं। छोटी-मोटी अशुद्धियाँ तो सीमातीत हैं। पर नेताओं और सभाओं का इस ओर सर्वथा ध्यान नहीं है। भर्तृहरि ने ठीक ही कहा है—

> 'बोद्धारो मत्सर-ग्रस्ताः प्रभवः स्मय-दूषिताः।
> अबोधोपहिताश्चान्ये जीर्णमङ्गे सुभाषितम् ॥'

'साधारण जन अनजान हैं, जानकारों में ईर्ष्या-द्वेष का साम्राज्य है। शक्ति-शालियों को अपने अहंकार से अवकाश नहीं। साहित्योद्धार फिर कैसे साधित हो?'

कन्या गुरुकुल, सासनी
(जिला अलीगढ़)
सं० २०१६ भाद्रपद २३ (सायन), सोम
(१४—९—५९)

विद्वद् वशंवद
भीमसेन शास्त्री

विषय-सूची

विरजानन्द-प्रकाश

प्रथम उल्लास—काशी-काण्ड

द्वितीय उल्लास—सौकरव काण्ड

तृतीय उल्लास—परिनिष्ठा-कांड

(मथुरा-निवास का कौमुदी-युग)

चतुर्थ उल्लास—सुन्दर-काण्ड

(मथुरा-निवास का आर्षयुग)

परिशिष्ट

महर्षि के चरित सम्बन्धी

नई महत्त्वपूर्ण खोज

श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने महर्षि दयानन्द की जन्म-भूमि टंकारा में निवास करते हुए महर्षि के चरित सम्बन्ध में आज तक अज्ञात नई घटनाओं की खोज की है। उसीका फल है—

महर्षि दयानन्द का भ्रातृवंश और स्वसृवंश

महर्षि के चार बड़े भाई थे। उनके वंशज सौराष्ट्र में विविध स्थानों में विद्यमान हैं। महर्षि के बड़े भाई के पौत्र श्री पं० लाभशंकर जी शास्त्री व्याकरणाचार्य से सम्पूर्ण विवरण उपलब्ध करके चारों भाइयों के वंश के अद्य यावत् विस्तार का निरूपण किया है। इसी प्रकार महर्षि की बहिन के वंश का भी। इसमें अनेक नई घटनाओं का संग्रह है। मूल्य लागत मात्र ।)

॥ ओ३म् ॥

विरजानन्द प्रकाश

ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद् भद्रं तन्न आसुव ॥

प्रथम उल्लास—काशी-काण्ड

१. जन्म तथा शैशव

(सं. १८३५–१८४८)

म्रियमाणा पुरातनी आर्यजाति को, वैदिक धर्म की संजीवनी से पुनरुज्जीवित करने वाले महर्षि दयानन्द के पूज्य गुरु, विरजानन्द सरस्वती का निर्मल प्राणवान् चरित किस कल्याणान्वेषी को सात्त्विक आनन्द से परिपूर्ण कर, पवित्रता प्रदान न करेगा।

पञ्जाब प्रान्त के जलन्धर नगर से ९ मील पश्चिम में स्थित कर्तार-पुर नगर के समीप, वेई नामक तनीयसी नदी के तटपर गङ्गापुर नाम एक ग्राम था। अब यह ग्राम नाममात्रावशेष रह गया है। वेई नदी की किसी बाढ ने उसका अस्तित्व विलुप्त कर दिया है और इस प्रकार अपने मूल नाम 'भिद्य' (शब्दानुशासन ३।१।११५ उभिनत्ति कूलम्) को पूर्ण चरितार्थ किया है।

उपर्युक्त गङ्गापुर ग्राम में एक विद्वान सारस्वत ब्राह्मण श्री नारायण-दत्त शर्मा निवास करते थे। ये शारद शाखा के अन्तर्गत थे। उनका गोत्र भारद्वाज था। इनके घर में पौरोहित्य वृत्ति तो रही ही होगी। साथ में शालुओं की छपाई का काम भी होता था। इसी से मथुरा

में विरजानन्द के द्वेषी उन्हें 'जाति का छीपा' भी प्रसिद्ध करते रहते थे।

पंजाब प्रान्त में इस समय सिखों की बारह मिसलों (सैनिक दलों) का आतङ्क जम चुका था। सिखों के प्रसिद्ध राजा पंजाब-केसरी श्री रणजीत सिंह, उपर्युक्त १२ मिसलों में से भंगी नाम के मिसल के सरदार थे। जिस समय (सं. १८३५) की चर्चा हम कर रहे हैं, उस समय पंजाब केसरी का * जन्म भी नहीं हुआ था।

उनके वीर पिता महासिंह गुजरांवाले के शासक थे। जलन्धर प्रदेश का शासक उस समय कौन था, यह हमें ज्ञात नहीं। सिखों का राज्य यमुना से झेलम तक था। पंजाब का शेष भाग अभी मुसलमानों के अधीन था।

महनीय-चरित श्री नारायणदत्त शर्मा के घर सं० १८३५ के उत्तरार्ध में पौष मास के लगभग (खीष्टाब्द १७७८ के अवसान के लगभग) एक बालक का जन्म हुआ। ऐसा प्रतीत होता है जालन्धर नगर से ६० मील पर स्थित नूरमहल में कदाचित् नारायणदत्त शर्मा का श्वसुरालय था, और इस भव्य बालक का जन्म नूरमहल में हुआ था।

इस होनहार बालक के नाम ने बाल्यावस्था में किन अक्षरों को गौरवान्वित किया, यह हमें ज्ञात नहीं। ज्वालामुखी, चिन्तपूरणी आदि तीर्थस्थानों के पण्डों के पास यदि नारायणदत्त का वंशवृत्त मिल जावे तो इनके वंश सम्बन्धी अनेक वृत्त अब भी प्रकाश में आ सकते हैं। तीर्थ-पुरोहितों के पास विरजानन्द व दयानन्द दोनों के कुलवृत्त की खोज का प्रयत्न आर्यपुरुषों को करना चाहिये। इससे भगवान को स्वीकार हो तो अनेक नई बातें प्रकाश में आ सकती हैं।

सारस्वत कुलभूषण विरजानन्द के नेत्र छोटी अवस्था में शीतला की

*** रणजीत सिंह का जन्म सं. १८३७ (खी. १७८०) में हुआ था।**

भेंट हो गए थे। कोई कहते हैं वे केवल २॥ वर्ष चक्षुष्मान् रहे थे। कोई इस अवधि को पाँच वर्ष, कोई छै वर्ष तक ले जाते हैं।

विरजानन्द को उर्दू-फ़ारसी के लेखन-पटन प्रकार का सम्यक् ज्ञान था। एक वार उन्होंने कहा था कि जैसे उर्दू-फ़ारसी प्रकरण वल से पढ़ी जाती है उसी प्रकार अशुद्ध ग्रन्थ का संशोधन भी प्रकरण वल से होता है।†

उर्दू-लेखन पटन-क्रम का इतना ज्ञान होने से हमें तो ऐसा लगता है कि विरजानन्द सम्भवतः ६ वर्ष से भी थोड़ा अधिक चक्षुष्मान् रहे होंगें।

इस होनहार अन्धे ब्राह्मण बालक का विद्यारम्भ पाँचवें वर्ष में हुआ होगा और उपनयन ८ वें वर्ष में हुआ, और अपने पितृचरण के समीप ही संस्कृत पढ़ने लगे। इन्होंने अमर-कोप कंठस्थ किया था तथा सारस्वत व्याकरण को* हलन्त पुँल्लिङ्ग तक साधनिका सह पढ़ चुके थे कि इनके पितृदेव दिवंगत हो गए।

---

† यह बात हमें स्वर्गीय पण्डित मुकुन्ददेवजी लिखित, अमुद्रित दण्डीजी की जीवनी से ज्ञात हुई है।

* पण्डित लेखराम तथा मुकुन्ददेव दोनों ने सारस्वत का स्पष्ट नामोल्लेख किया है। पण्डित मुकुन्ददेव जी ने "हलन्त पुँल्लिङ्ग" रूप सीमा भी निर्दिष्ट की है। मुखोपाध्याय जी ने "व्याकरण" मात्र लिखा है।

वस्तुतः पंजाब में सारस्वत मात्र का प्रचार था जो पंजाबी संस्कृताध्ययनार्थ बाहर निकल जाते थे, वे कौमुदी पढ़ते थे, पर उनमें से पंजाब लौटते कम थे। पंजाब में कौमुदी का प्रचार कदाचित् सं० १९२५ के बाद की बात है। यूनिवर्सिटी परीक्षाएँ चलने पर प्रचार बढ़ा। "अमृतसर की चन्द्रिका रही जगत में छाए" रूप प्रसिद्धि भी पञ्चाम्बु प्रदेश में सारस्वत का ही कीर्तन करती है।

श्री विरजानन्द ने घर पर व्याकरण के अतिरिक्त कुछ पञ्चतन्त्र अन्यथा हितोपदेश भी अवश्य पढ़ा था। यतः जब इन्होंने घर छोड़ा था तो ये संस्कृत-भाषण कर लेते थे और उसी समय से इन्होंने संस्कृत को अपनी व्यावहारिक भाषा बना लिया था।

'विरजानन्द फ़ारसी के भी उत्कृष्ट विद्वान थे' यह बात हम आगे कहेंगे। इसमें उत्कर्ष तो आगे शनैः २ प्राप्त हुआ होगा, और इसका विशेष अध्ययन सम्भवतः कालिकाता-निवास काल में हुआ होगा। तथापि वे फ़ारसी लिपि, उर्दू भाषा के लेखन-पठन से परिचित अपनी चक्षुष्मत्ता के काल में ही हो चुके थे, इसमें सन्देह नहीं। यह उर्दू अध्ययन पितृचरणों से हुआ, अथवा किसी अन्य से यह हमें ज्ञात नहीं। पर चक्षुष्मत्ता काल में हो अवश्य चुका था।

पितृचरण के स्वर्गवास के स्वल्पकाल पश्चात् ही वात्सल्य-प्रतिमा माता जी भी पतिमार्गानुसारिणी हो गई। इस प्रकार बारहवें वर्ष में ये शरीर-यात्रार्थ भाई-भावज के आश्रित हो गए। इस प्रत्युपकार में असमर्थ, विनेत्र जन्तु के अन्न वस्त्र का व्यय-वहन नए अभिभावकों (भाई-भावज) को असह्य होने लगा और इनके साथ दुर्व्यवहार की मात्रा बढ़ती गई। भारद्वाज जी,† बाल्यकाल से ही तेजस्वी, आत्मगौरव-भावभरित तथा उग्रस्वभाव के थे। अतः वे उत्तेजक व्यङ्ग-वृष्टि तथा कटुक वर्णमयी परुषभाषा को मौन हो सहने में सुतरां असमर्थ थे। वे ऐसे अवसरों पर भाई-भावज की आलोचना तथा विरोध प्रकट करते थे, और शीघ्र ही गङ्गापुर में दुर्वासा नाम से प्रसिद्ध हो गए। सतत बढ़ती हुई कटुता तथा दुर्व्यवहार ने, हमारे चरित-नायक को तेरह वर्ष की अवस्था में ही, अपने अभिजन (पिता-

---

† गोत्र का नाम-रूप में प्रयोग हमारे देश की प्राचीन प्रथा है। यथा अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक में महर्षि कण्व का प्रायः काश्यपनाम से कीर्तन हुआ है और कश्यप ऋषि का मारीच नाम से।

पितामह की भूमि) छोड़ने पर विवश किया और ये एकदिन बिना किसी के कहे-सुने चल पड़े।

यह घटना सं० १८४८ (खीष्टाब्द १७९२) की अनुमित होती है। इस समय तक पञ्जाब की राजनीतिक परिस्थिति में विशेष परिवर्तन का सूत्रपात नहीं हुआ था। तब तक रेल के दर्शन तो पञ्जाब और भारत तो क्या यूरोप ने भी नहीं किए थे। उन दिनों लम्बी यात्रा का संकल्प मात्र एक साहसिक कार्य था और श्री भारद्वाज थे एक नेत्रहीन बालक और सम्पद् सम्बल से भी परिहीन। तथापि उनके समीप उत्साह-सम्बल का अक्षय्य भण्डार था, अतः वे निर्भीकता से मार्ग पूछते हुए चल पड़े। जब कोई उनसे कुछ पूछता था तो वे संस्कृत में उत्तर देते थे।

२. प्रथम पर्यटन

(संवत् १८४८–१८५०)

घोर अवसादमयी स्थिति में बालक भारद्वाज घर से निकल पड़े। दुःखी प्राणी का आश्रय भगवन्नाम-स्मरण तो होता ही है तथापि हमारी समझ में गृह-त्याग के समय उनके मन में भावी-जीवन विषयक कोई सुनिश्चित रूप-रेखा न रही होगी।

गृह-त्याग के कुछ काल अनन्तर श्री भारद्वाज को किसी संन्यासी का साथ मिल गया। उसके साथ उन्होंने बहुत स्थानों पर भ्रमण किया। वे उससे अध्ययन भी करते थे। इस भ्रमण में अनेक धार्मिक भक्त पुरुषों, साधु तथा सन्तों से समागम होते हुए उनका हृषीकेश में जाह्नवी-धारा में खड़े होकर गायत्री जप का संकल्प बना होगा।

इस प्रकार २-२॥ वर्ष पर्यटन करते हुए वे धीरे-धीरे हृषीकेश आ पहुँचे, इस समय उनका वय लगभग १५ वर्ष का था। अर्थात् इस समय सम्भवतः विक्रम १८५० (खी. १७९३) चल रहा होगा।

हृषीकेश यात्रा का संकल्प बन जाने पर किसी समृद्ध भगवद्-भक्त ने उनकी आर्थिक सहायता करके उनकी यात्रा की व्यवस्था करदी थी, ये सज्जन कहाँ के निवासी थे और कितनी यात्रा इनकी सहायता से हुई, यह ज्ञात नहीं * ।

३. हृषीकेश में घोर तप

(सम्वत् १८५०-१८५३)

तपस्वी प्रवर श्री भारद्वाज, हृषीकेश पहुँचकर आ-कण्ठ भागीरथी जल में खड़े होकर गायत्री जपने लगे। वे रात्रि में अति न्यून सोते थे। दिन के २४ घण्टों का अधिकांश भाग गायत्री जप के उग्र-तप में व्यतीत होता था।

उस समय का हृषीकेश तपस्वि-जन की एक अल्प वसतिमात्र था। जन-संख्या अतिन्यून तथा विरल, (दूर-दूर बसी हुई) थी। वन्य पशुओं का महान् आतङ्क था। रात्रि में तो उनका नियमित पर्यटन होता ही था, कभी-कभी वे भारद्वाज की संक्षिप्त निर्बल कुटिया को भी क्षत-विक्षत कर जाते थे। बाल तपस्वी दूसरे दिन उसका जीर्णोद्धार कर लेते थे।

---

* इस आर्थिक सहायता का वृत्त हमें स्वर्गीय पं० मुकुन्ददेव जी लिखित, अप्रकाशित दण्डी की जीवनी से ज्ञात हुआ है।

उन दिनों उस तपोभूमि में कन्दमूल-फल का बाहुल्य था। इसी प्राकृतिक सम्बल से इस बाल-तपस्वी की जीवन-यात्रा चलती थी। आवश्यकतानुसार कभी-कभी किसी मन्दिर अथवा क्षेत्र से अन्न प्राप्त कर लेते थे। भिक्षा माँगने न जाते थे।

तीन वर्ष तक बाल-तपस्वी ने वहाँ कठोर तपस्या की। उनके उग्र तप को देखकर सभी विस्मयान्वित होते थे।

एक बार रात्रि में सोये हुए बाल-तपस्वी ने सुना—"तुम्हारा जो कुछ होना था हो चुका। अब तुम यहाँ से चले जाओ"† यह सुनकर तपस्वी भारद्वाज की निद्रा भंग हो गई। उन्होंने सावधानता से गवेषणा की, पर वहाँ पास में कोई न था। अतः उन्होंने इन शब्दों को दैवीवाणी समझा। उनके संकल्पित पुरश्चरण की पूर्ति में कुछ न्यूनता भी थी, जो उन्होंने हरद्वार में आकर पूर्ण की होगी, वे अब हृषीकेश न ठहरे। वहाँ से हरद्वार आ गये।

---

४. हरद्वार में विद्याध्ययन व संन्यास-दीक्षा

(संवत् १८५३-१८५६)

हरद्वार में तपस्वी भारद्वाज ने किसी पंडित से वरदराज रचित मध्य कौमुदी को हलन्त पुल्लिङ्ग तक पढ़ा।

हरियाणा प्रदेश के एक गौड ब्राह्मण अच्छे विद्वान हुए हैं। उनका पूर्वाश्रम नाम ज्ञात नहीं। संन्यासी होकर वे पूर्णानन्द सरस्वती❀

---

† पण्डित मुकुन्ददेव ने इस घटना का वर्णन नहीं किया है।

❀ लेखराम तथा मुकुन्ददेव ने पूर्णानन्द का स्थान हरद्वार लिखा है। मुखोपाध्याय जी ने उन्हें कनखल में समासीन किया है। मुखोपाध्याय जी ने इनका नाम पूर्णाश्रम लिखा है। यदि वे पूर्णाश्रम होते

नाम से विख्यात हुए। ये कौमुदी के उच्च कोटि के विद्वान थे। अष्टाध्यायी आदि आर्षग्रन्थों के बड़े श्रद्धालु थे और उनकी यह श्रद्धा उनके शिष्यों में भी संक्रान्त हुई। कहा जाता है कि सं० १९१४ के स्वातन्त्र्य-संग्राम के समय ये ११० वर्ष के थे। इस प्रसिद्धि से इनका जन्म सं० १८०४ का प्रतीत होता है। एवं जिस समय तपस्वी भारद्वाज इनके पास गए तब इनका *पचास वर्ष के लगभग वय रहा होगा।

इनके विद्या और तप की प्रसिद्धि सुन तरुण तपस्वी भारद्वाज ने इनसे संन्यास-दीक्षा लेकर विरजानन्द सरस्वती नाम पाया। इस प्रकार पूर्णानन्द सरस्वती विरजानन्द के दीक्षा तथा विद्या गुरू थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सं० १९१२ में उत्तरापथ की यात्रा की थी। उस समय ज्योतिर्मठ के जो शंकराचार्य थे वे भी पूर्णानन्द के शिष्य थे। इन शंकराचार्य की चर्चा हम आगे यथास्थान करेंगे।

पूर्णानन्द के पास विरजानन्द ने सिद्धान्त कौमुदी पढ़ी तथा अष्टाध्यायी (पाणिनीय शब्दानुशासन) विषयक श्रद्धा भी दायभाग में प्राप्त की। काशीवास के समय विरजानन्द को शब्दानुशासन (पाणिनीय अष्टाध्यायी) के कुछ स्थल अवश्य कण्ठस्थ थे। वे स्थल उन्होंने कदाचित् पूर्णानन्द से ही कण्ठस्थ किये होंगे। विरजानन्द ने आरम्भ से ही अध्ययन के साथ अध्यापन भी प्रारम्भ कर दिया था। इस अभ्यास ने उन्हें शीघ्र पूर्ण पण्डित और अनुभवी गुरू बना दिया।

विरजानन्द में ब्रह्मचर्य तपस्या तथा गायत्री-जप से मेधा बुद्धि के साथ-साथ काव्य-प्रतिभा भी जागृत हो गई। हरद्वार में उन्होंने रामचरित्र सम्बन्धी बहुत से श्लोक भी रचे थे।

तो हम समझते हैं कि विरजानन्द सरस्वती विरजाश्रम बनते। विरजानन्द सरस्वती कदाचित् न बनते। अतः हम पूर्णानन्द ही ठीक समझते हैं।

पूर्णानन्द ने कौमुदी समाप्त कराके विरजानन्द को महाभाष्य अध्ययनार्थ काशी जाने की प्रेरणा की और विरजानन्द दूसरे ही दिन एक छात्र के साथ हरद्वार से चल पड़े ।

५. काशी-निवास

(सं० १८५६-१८६८)

हरद्वार से कनखल पहुँचकर कुछ पण्डितों से कनखल शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार हुआ । दण्डी जी ने निर्वचन किया "को न खलस्तरति यत्र स कनखलो नाम स्वर्णदी प्रान्तस्थो ग्रामः" (कौन नहीं खल तरता है जहाँ, वह स्वर्ण नदी के प्रान्त में स्थित ग्राम) इस पर वहाँ के पण्डितों से आपका शास्त्रार्थ हुआ, और उन पण्डितों ने आपके वैदुष्य से संतुष्ट हो आपका सत्कार किया । वे लोग आपको पर्याप्त रोकना चाहते थे, पर आप वहाँ विशेष न रुके और चल पड़े ।

हरद्वार से प्रारम्भ हुई इस यात्रा में विद्वान् साधुओं के समान कदाचित् दो लक्ष्य थे । प्रथम सर्व-साधु-जन-समादृत भागीरथी (गङ्गा) परिक्रमा, तथा द्वितीय विद्योपलब्धि और इन दोनों लक्ष्यों को उन्होंने भले प्रकार पूर्ण किया । गंगा के तटानुसार चलते हुए काशी, गया और कलिकाता (कलकत्ता) में पर्याप्त वास करते हुए अपनी विद्या और ज्ञान को सम्यक् बढ़ाया । तीस वर्ष की अवस्था प्राप्त होने से पूर्व काशी के वृद्धतम विद्वानों से सत्कृत हुए । समग्र व्याकरण के अतिरिक्त सारे दर्शन, साहित्यशास्त्र, आयुर्वेद तथा अन्य समग्र प्रचलित ग्रन्थों व संगीतादि कलाओं पर पारदर्शिता प्राप्त की । फारसी का उच्च वैदुष्य प्राप्त किया । मायब शतरंज के अनुपम खिलाड़ी बने । योगासनों व कुछ योग

क्रियाओं में प्रवीणता लाभ की। तदनन्तर गंगा के तटानुसार लौटते हुए हरद्वार के अपने विद्या, दीक्षा गुरु का पुनः सांनिध्य लाभ किया। साधारण साधु जन गंगा की प्रदक्षिणा तीन वर्ष में करते हैं। विरजानन्द ने अन्य साधुओं की अपेक्षा इस प्रदक्षिणा में कोई बीस वर्ष अधिक लगाए होंगे।

मन्थर गति से गंगातट पर चलते हुए प्रायः एक वर्ष में काशी पहुँचे। नेत्र विरहित होने से थोड़ा-थोड़ा चल पाते थे। यात्रा में भी अध्ययन-अध्यापन चलता रहता था। कहीं-कहीं विद्या विनिमय भी होता था। यथा किसी से पञ्चदशी (वेदान्त) आदि पढ़ा और उसे कौमुदी आदि (व्याकरण) पढ़ा दिया।

अब श्री दण्डी जी पण्डित-पद-भाक् हो गए थे, तथापि अपने आप को विद्यार्थी ही कहते थे। संस्कृत भाषण विरजानन्द जी के लिये काम-धेनु रूप था। उनकी सर्व आवश्यकताएँ पूर्ण हो जाती थीं। यह संस्कृत भाषण तो पाठक जानते हैं कि विरजानन्द ने अपना ग्राम छोड़ते ही आरम्भ कर दिया था।

श्री दण्डी जी की इस यात्रा में शूकर क्षेत्र सोरां भी पड़ा था। यह स्थल उनकी जीवनी में अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। वे हरद्वार को लौटते समय भी यहाँ होकर गए थे। आगे हम देखेंगे कि उन्होंने लग-भग २५ वर्ष पश्चात् यहाँ पर्याप्त निवास किया था। तदनन्तर ४-५ वर्ष अन्य स्थानों पर रह कर ये पुनरपि अनेक वर्ष यहाँ रहे थे। दोनों बार में वे शूकर क्षेत्र में १५ वर्ष के लगभग रहे होंगे। पर काशी जाते समय तथा हरद्वार को लौटते समय वे यहाँ कितना-कितना ठहरे यह हमें ज्ञात नहीं।

दण्डी जी अब काशी पहुँचे। तब वे २२ वर्ष के थे। अर्थात् वे सं० १८५७ के अन्त के लगभग वहाँ पहुँचे थे। यहाँ वे एक संन्यासी के आश्रम पर ठहरे। हमने हृषीकेश से ही देखा है कि वे भिक्षा निमित्त

कहीं न जाते थे। यहाँ उन्हें २-३ दिन उपोषित रहना पड़ा पर वे विचलित नहीं हुए। आगे दृढव्रत विरजानन्द को स्व-स्थान पर ही भोजन मिलने लगा।

दण्डी जी मनोरमा-शेखरादि स्थान-स्थान पर जाकर पढ़ आते थे। पाठ सुनकर अनुपम धारणा शक्ति से सम्यक् समझकर, अनायास ही हृदयस्थ कर लेते थे। यहाँ भी पहुँचते ही उन्होंने समागत छात्रों का अध्यापन आरम्भ कर दिया था। वे महान् मेधावी थे और पठित-अपठित जो भी ग्रन्थ उपस्थित किया जाता था उसे पढ़ा देते थे।

कहा जाता है कि काशी में किन्हीं पण्डित विद्याधर के पास उन्होंने अध्ययन किया था। अनेक ईर्ष्यालु लोगों के रोकने पर भी गुण-परीक्षक पण्डित विद्याधर ने उन्हें पढ़ाना बन्द न किया।

विरजानन्द ने अलवर नरेश विनयसिंह को पढ़ाने के लिये 'शब्द बोध" नामक पुस्तक में अपने को गौरी-शंकर शिष्य लिखा है। ये गौरी-शंकर काशी के कोई विद्वान् थे या अन्य स्थान के यह अद्यावधि ज्ञात न हो सका।

दण्डी जी को ६-७ मास के महान् प्रयास से महाभाष्य का हस्तलेख प्राप्त हुआ, पर था सर्वथा अशुद्ध। बात चलने पर विरजानन्द ने विद्यार्थियों से कहा—यदि तुम फ़ारसी या अवरतः उर्दू पढ़े होते तो इस मर्म को समझते कि अशुद्ध पुस्तक का शुद्ध करना पूर्ण (अर्थात् प्रकरणवित) पण्डित का कार्य है।

आदर्श अध्यापक-शिरोमणि दण्डी तथा उनके आदर्श शिष्य दयानन्द सरस्वती के प्रभाव से बहुत आगे चलकर तो शब्दानुशासन [पाणिनीयाष्टक] की पुस्तक सर्व सुलभ हो गई। किन्तु उस समय यह ग्रन्थ सर्वथा अप्राप्य था। दशग्रन्थी ऋग्वेदियों के घर में यह पुस्तक सुना जाता था, थी। वह भी कुछ शुद्ध, कुछ अशुद्ध। ऋग्वेदी महानुभाव अपने ग्रन्थ को किसी को न दिखाते थे, वे इस कार्य को स्वगुप्त महा-

मूल्य द्रव्यराशि के प्रदर्शन के समान अत्यन्त नीति-विरुद्ध कर्म समझते थे। शब्दानुशासन की दुर्लभता के कारण उस समय कौमुदी पर भी अध्याय, पाद व सूत्र के अंक नहीं लिखे जाते थे। अतः कौमुदी का अध्यापन उस समय इस समय की अपेक्षा अत्यधिक शुष्क तथा चमत्कारहीन था।

हम ऊपर लिख चुके हैं कि श्री दण्डी जी को शब्दानुशासन (अष्टाध्यायी) के कुछ एक स्थल सम्भवतः हरद्वार से ही कण्ठस्थ थे। एक दिन उन्होंने काशी में किसी खर्रा-घुकन्त पण्डित से प्रश्न किया—'हलन्त्यम्' (शब्दानु० १।३।३) सूत्र में दो पद हैं, पर इसकी वृत्ति (अर्थ) 'उपदेशेऽन्त्यं हल् इत् स्यात्' में चार पद हैं। इन दो पदों की अनुवृत्ति किस सूत्र से आई है? क्या इसी प्रकार अन्य सूत्रों की अनुवृत्ति के मूल सूत्र भी बता सकते हो?"

इसी प्रकार उन्होंने एक अन्य प्रश्न भी किसी काशीस्थ पण्डित से कर दिया—"पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते, नोत्तरान्" इस परिभाषा के उदाहरणीभूत कौमुदी-वर्णित अनन्तर तथा उत्तरस्थ विधियों से भिन्न विधियों को भी जानते हो?"

हमारे चरित नायक के इन प्रश्नों ने काशी-पण्डित-मण्डल में खलबली मचा दी, और दण्डी जी को सर्वत्र प्रसिद्ध कर दिया। फलतः श्री दण्डी जी को काशीस्थ-पण्डित-सभा में चतुर्थ या पंचम स्थान प्राप्त हो गया। प्रायः लोग अनाहूत ही सभा में प्रविष्ट हो स्व-प्रश्नोत्तर से पण्डितों को चमत्कृत कर, पण्डित-सभा में स्थान पाते हैं, पर दण्डीजी ने अपने स्थान पर ही प्रश्न पूछकर यह सभ्यता प्राप्त की। श्री दण्डी जी ने ३० वर्ष की अवस्था (सं० १८६५) से भी पूर्व वृद्ध पण्डितों का पूर्ण समादर तथा सभाओं में सर्वश्रेष्ठ पण्डितों के साथ गन्ध-अक्षतादि-समर्चन-सत्कार प्राप्त किया और पण्डित मूर्धन्यों में परिगणित हो गये। काशी में ही वे प्रज्ञा-चक्षु उपाधि से विभूषित

हुए। अब सभाओं में दण्डीजी को शिविका-व्यय, अपने तथा शिष्यों के लिए दक्षिणा मिलने लगी। पूर्ण शिविका-व्यय, शिविका-वाहकों को तथा अपनी व शिष्यों की दक्षिणा सब शिष्यों को दे देते थे।

काशीस्थ पण्डित-गण निस्पृह, निर्भीक दण्डी जी से घोर वैमनस्य रखते थे। दण्डी जी महाभाष्य † समाप्तकर आगे चलने को प्रस्तुत हो गये। उन्होंने महाभाष्य सम्भवतः पण्डित विद्याधर से पढ़ा था, पर इस बात पर हम बल नहीं दे सकते। काशी में उन्होंने व्याकरण के अतिरिक्त वेदान्त, मीमांसा तथा न्याय का भी अध्ययन-अध्यापन किया था। यहाँ वे १० वर्ष से न्यून न रहे होंगे।

---

६. गया-निवास

(सं० १८६८–१८७२)

श्री प्रज्ञाचक्षु जी वाराणसी से गया को प्रस्थित हुए। इस समय वे लगभग ३३ वर्ष के होंगे। अब उनके पास पुस्तकों का पर्याप्त भार हो गया था, अतः वस्तुजात वहनार्थ उन्होंने एक भारवाही भृत्य भाटक पर लिया और स्वयं तीर्थ-बुद्धया पदाति चल पड़े। मार्ग में एक रात उन्हें डाकुओं ने आ घेरा। श्री दण्डी जी निर्भीकता पूर्वक संस्कृत में भर्त्सना करने लगे जिसका भाव यह था—"अरे धनहरो!

---

† महाभाष्य में नवाह्निक (प्रथमाध्याय के प्रथम पाद का भाष्य) मात्र पढ़ा-पढ़ाया जाता था। कोई बहुत अधिक बल लगाता था तो अङ्गाधिकार (षष्ठाध्याय चतुर्थपाद तथा सप्तमाध्याय का भाष्य) भी पढ़ लेता था। दण्डी जी ने भी इतना ही पढ़ा होगा। शेष ६॥ अध्याय उन्होंने मथुरा में सं० १९१६ में स्मरण किये थे।

तुम स्वर्णादि बहुमूल्य पदार्थों के लोभी हो, पर हो बुद्धिशून्य कि मूर्खता से पुस्तकों को धन समझ बैठे हो। रीते हाथ लौटोगे।"

डाकुओं ने लख लिया कि यहाँ कुछ है नहीं, तथापि निर्भीक संस्कृत-पाठ सुन, विनोद-पूर्वक दण्डी जी से कौतुक करने लगे। थोड़ी ही दूर पर ग्वालियर राज्य के कोई जागीरदार ठहरे हुए थे। उन्होंने रात में किसी भद्रपुरुष को विपन्न जान, अपने शस्त्रधारी सेवकों को भेजा। सिपाहियों के पहुँचते ही वे बटमार भाग खड़े हुए। श्री दण्डी जी उन वीरभटों से भी संस्कृत में आलाप करने लगे। उपर्युक्त जागीरदार ने दूर से संस्कृत की ध्वनि सुन अपने पण्डित को भेजा। पण्डित महोदय विदित-वृत्तान्त हो प्रज्ञाचक्षु जी को उपर्युक्त सर्दार के पास ले गये। सर्दार ने भक्तिपूर्वक उनका आतिथ्य किया। श्री दण्डी जी ने उनका विशेष आग्रह देख ५ दिन उनका आतिथ्य अंगीकार किया। छठे दिन वे आगे चल पड़े।

हमारे चरित्र नायक ने गया पहुँचकर श्राद्धादि कार्य किये। तदुपरान्त वे वहाँ वेदान्त के ऊँचे ग्रन्थों के अध्ययन की सुविधा देखकर वहीं ठहर गये। उपनिषदों का अध्ययन हरद्वार में ही आरम्भ हुआ होगा और काशी में समाप्त हुआ होगा। इन सब पर पुनः गम्भीर अध्ययन गया में हो गया होगा। यहाँ वे कोई तीन वर्ष रहे होंगे (सं० १८६८–७१)।

यहाँ से चलकर (सं० १८७१) धीरे-धीरे दण्डी जी कलकत्ता पहुँचे (सं० १८७२)। हरद्वार से काशी तक गंगा तटानुतट आये थे। आगे पटना तक भी वही क्रम था, पर गया गंगातट से दूर है। गया से सीधा मार्ग कलकत्ता को जाता है। भागीरथी परिक्रमा के विचार से वे गया के दक्षिण में न जाकर, उत्तर में वहाँ पहुँचे होंगे, जहाँ से गंगा तट छोड़ा था और फिर तटानुतट गंगासागर तक जाकर वहाँ से कलकत्ता गये होंगे।

---

७. कलिकाता-यात्रा

(सं १८७२-१८७८)

कलकत्ता उस समय भारतवर्ष की राजधानी था। उन दिनों यहाँ भी संस्कृत के उच्च विद्वानों का निवास था। यहाँ आपने लगभग १॥ वर्ष तक साहित्य के ऊँचे ग्रन्थ (साहित्यदर्पण, कुवलयानन्द, काव्य-प्रकाश, रसगंगाधर, आदि) तथा नवीन व प्राचीन न्यायों के ग्रन्थों का सम्यक् अध्ययन अध्यापन किया। यहाँ आपने आयुर्वेद, संगीत, वीणा-वादन तथा अन्य अनेक कलाओं में कुशलता प्राप्त की। प्रचलित ग्रन्थों के अध्ययन को परिसमाप्त कर, बृहद्-सरस्वती भाण्डागारों की ग्रन्थ-सूचियों का भी सम्यक् अवलोकन किया कि अब कौन से ग्रन्थ अध्येतव्य शेष हैं। उन्होंने निश्चय कर लिया कि 'अब गुरुमुख से श्रोतव्य कोई ग्रन्थ शेष नहीं है। जो ग्रन्थ अदृष्ट हैं, स्वतः विचारणीय हैं।'

प्रज्ञाचक्षुजी काशी में ही मूर्धन्य विद्वानों की श्रेणी में आ चुके थे। अब तक तो आप और भी परिनिष्ठित हो चुके थे। बड़े-बड़े भट्टाचार्य आपके स्थान पर आकर अभिलषित विषय की मीमांसा करते थे।

नेत्रहीनों पर कटाक्ष करने वालों पर श्री दण्डी जी का कोप-वज्र सफलतया पतित होता था। "वैद्य जीवन" के रचयिता लोलिम्बराज ने ऐसा ही कटाक्ष किया है। उसने अपने ग्रन्थारम्भ में लिखा है—

येषां न चेतो ललनासु लग्नं, मग्नं न साहित्य-सुधा-समुद्रे।
ज्ञास्यन्ति ते किं मम 'हा' प्रयासानन्धा इव वार-वधू-विलासान्॥

---

† प्राचीन न्याय से न्यायसूत्र तथा वात्स्यायनभाष्य न समझने चाहिये। इनका तो प्रचार ही न था। इनसे इतर न्याय वैशेषिक ग्रन्थों के भी नवीन न्याय प्राचीन न्याय रूप में दो भाग समझे जाते रहे हैं।

[अर्थात् जिनका चित्त ललनाओं में नहीं लगा तथा साहित्य-पीयूष-सागर में भली प्रकार नहीं नहाया। दुःख है कि वे मेरे परिश्रम का आनन्द उसी प्रकार अनुभव न कर सकेंगे, जैसे अन्धे गणिकाओं के विलासों को नहीं जान सकते।]

श्री दण्डी जी ने इस ग्रन्थ के रचयिता की आलोचना में कहा—

'लोलिम्बराज अपने मन में कवित्त्व का अभिमान रखता है, पर है वह व्याकरणानभिज्ञ। देखो उसमें लिखा है—

औषधं मूढ-वैद्यानां, त्यजन्तु ज्वर-पीडिताः
पर-संसर्ग-संसक्त-कलत्रमिव साधवः ॥

[अर्थात् ज्वर-पीड़ितों को मूर्ख वैद्यों की चिकित्सा उसी प्रकार छोड़ देना चाहिये जैसे भले आदमी पर-पुरुषों से संसक्त स्त्री को छोड़ देते हैं।]

इस श्लोक में 'मूढ-वैद्यानाम्' प्रयोग असाधु (अशुद्ध) है। "कुत्सितानि कुत्सनैः" शब्दानुशासन २।१।८२ के अनुसार 'वैद्य-मूढानाम्' होना चाहिए।"

संस्कृत में "दोष-ज्ञ" तथा "छिद्र-ज्ञ" शब्द पण्डित के पर्याय हैं। जो मनुष्य दोषों को, छिद्रों (=त्रुटियों) को भली प्रकार जानता है, वही दूसरों के छिद्र भी पकड़ सकता है, और स्वयं भी उनसे बच सकता है। श्री दण्डी जी पूर्ण दोषज्ञ (=पण्डित) थे, किसी का भी छिद्र उनसे बच न पाता था, अतः सारे विद्वान् उनके समक्ष परास्त होते थे।

श्री दण्डी जी ने कलिकाता में अनेक वर्ष निवास किया। पर्याप्त छात्रों को विभिन्न विषय पढ़ाये। अनेक उच्च पदस्थ पुरुषों से उनकी भेंट हुई। यहीं वे गायत्र शतरञ्ज के अप्रतिम खिलाड़ी बन गये। वीणा वादन तथा आयुर्वेद में भी स्पृहणीय प्रवीणता प्राप्त की। अपने गुणों से उन्होंने इस महती नगरी में महान् सम्मान प्राप्त किया। यदि वे संग्रही होते तो लक्षशः मुद्रा संचित कर लेते, पर वे धन-विभाजन मुक्त-हस्त हो करते थे। अपने पास कुछ न रखते थे।

अनेक गुणज्ञ उदार सज्जनों ने दण्डी जी के लिए आवास, यान, भोजन, परिधान, भृत्य वर्ग आदि का समुचित प्रबन्ध करके उनको कलकत्ता रखना चाहा, पर ज्यों-ज्यों इस प्रकार का अनुरोध बढ़ता था; त्यों-त्यों उनका प्रस्थानाभिलाष तीव्रतर होता जाता था। वे सच्चे वीत-स्पृह संन्यासी थे और गगन संचारी विहंगवत् सर्वथा बन्धन रहित तथा निरासक्त रहना चाहते थे। एक दिन अधिक अनुरोध देख उसी रात वहाँ से चल पड़े।

रात्रि-यात्रा से अनुमान होता है कि ग्रीष्म ऋतु रही होगी।

---

८. भागीरथी परिक्रमा की पूर्णता

(सं० १८७८–८०)

विरजानन्द जब हरद्वार से चले थे तब उनका प्रधान लक्ष्य काशी पहुँचकर भाष्यान्त व्याकरण पढ़ना था। पता नहीं दर्शनाध्ययन भी उनका लक्ष्य बन चुका था या नहीं। भागीरथी का पूर्ण परिक्रमण, अवश्यकर्तव्य रूप में चाहे उस समय स्थिर न हुआ, तथापि भागीरथी तटानुतट परिभ्रमण की पवित्रता की भावना थी ही। काशी के अध्ययन की समाप्ति पर, प्राचीन परम्परा से श्राद्ध दृष्टि से गया गये। वहाँ भी अध्ययन का सुयोग देख ठहर गये। वहाँ से नव्यन्याय, साहित्यादि अध्ययनार्थ कलकत्ते का संकल्प हो गया और यह सब परेशानुकोश (ईश्वर कृपा) से अति सुन्दरता से स्पृहणीय सफलता से पूर्ण हुआ।

सांसारिक-वैभव व सम्मान-सत्कार, निस्पृह विरजानन्द के लक्ष्य न थे, अतः वे निष्प्रयोजन वैभवशाली कलकत्ते में क्यों ठहरते? उन्हें तो आत्मानुसन्धान के लिये एकान्त स्थान और उत्तम जलवायु की आव-

श्यकता थी और अपेक्षित थे विद्या-ज्ञान-प्रसारार्थ जिज्ञासु छात्र। ऐसे किसी अभिमत स्थान पर बैठने से पूर्व अपने दीक्षा तथा विद्या-गुरु स्वामी पूर्णानन्द के चरण-सान्निध्य की तीव्र लालसा थी। मार्ग में काशी के गुरु-जन तथा भक्त-वृन्द से मिल लेना भी अप्रयास-लभ्य था, और इस सबको करते हुए, भागीरथी परिक्रमा भी पूर्ण हो गई। वे सम्भवतः कलकत्ते से गंगासागर जाकर गंगा के ऊपर तटानुतट हरद्वार को चल पड़े।

हम ऊपर कह आए हैं, कि दण्डी जी सम्भवतः ग्रीष्म ऋतु में कलकत्ते से चले थे। उनके नेत्र-हीन होने से इस निवृत्ति यात्रा में कदाचित् दो-ढाई वर्ष लग गये होंगे। भगवद् भक्ति तो नित्यचर्या थी ही। बीच-बीच में विद्वज्जन से संलाप तथा शास्त्रीय मीमांसा के शोभन अवसर भी सुलभ थे। काशी में, लौटते हुए भी, कुछ काल विश्राम किया ही होगा।

मार्ग में शूकर-क्षेत्र (सोरों) पुनः आया। प्रथम सोरों प्राप्ति के समय तो उनका लक्ष्य काशी थी और कहीं बैठने का कोई प्रश्न सामने न था, पर इस द्वितीय आगमन के समय यह प्रश्न भी उपस्थित था ही और संभवतः सोरों छोड़ने से पूर्व उन्होंने हरद्वार से लौट कर यहीं आकर रहना निश्चय कर लिया होगा।

प्रज्ञाचक्षु जी मन्थरगति से हरद्वार पहुँचे। भागीरथी प्रदक्षिणा भी पूर्ण हुई। पूज्य गुरुवर्य के दर्शन भी हो गये। दोनों का यह मिलन अवश्य दोनों के लिये अतीव सन्तोषावह रहा होगा। पूर्णानन्द जी अपने शिष्य की अकल्पनीय उन्नति को देखकर फूले न समाते होंगे। ७६ वर्षीय गुरुवर्य ने अपने ४५ वर्षीय शिष्य की युग-द्वय (२४ वर्ष) व्यापिनी सुदीर्घ यात्राओं की कथा, अध्ययन, मान-संमान, यात्रा के क्लेश सब अतिहर्ष पूर्वक सुने होंगे, और शिष्य का मन सम्पूर्ण वृत्तान्त निवेदन कर परम परितुष्ट हुआ होगा। विरजानन्द का जो आत्मीय

सम्बन्ध इस समय तक पूर्णानन्द सरस्वती से था, वह संभवतः अन्य किसी से न था। काशी के विद्वान् विद्या-वृद्ध होते हुए भी प्रायः लोभाद्यभिभूत होने से अधिकांश में विरजानन्द के उतने श्रद्धाभाजन न हो सकते थे।

गुरुवर्य के भूरि-भूरि आशिषों से आप्यायित विरजानन्द, उनकी आज्ञा प्राप्त कर हरद्वार से चल पड़े और अपने अभिमत स्थान सोरों में आ विराजे।

द्वितीय उल्लास—सौकरव-काण्ड

९. शूकर क्षेत्र का प्रथम निवास

(सं० १८८० से १८८९)

वर्तमान सोरों नगर पहले गंगा के तट पर ही स्थित था। गङ्गा अकबर, जहाँगीर, तुल्सीदास आदि के समय में पुराने ही मार्ग में बहती थी। सोरों निवासी तुल्सीदास गङ्गा की इस पुरानी धारा को ही सम्वत् १६०४ भाद्रपद वदी ३ शुक्रवार (५. ८. १५४७ ख्री०) को आधी रात में पार करके दूसरे तट पर स्थित बदरिया ग्राम में अपने श्वशुरालय को गए थे। महाकवि नन्ददास के पुत्र कृष्णदास ने यहीं पर स्थित गङ्गा की धारा की बाढ़ का वर्णन अपनी कविता में किया था।

अब कई शतियों से गङ्गा की धारा मार्ग-परिवर्तन कर ४ मील दूर हट गई है।

हम पहले कह चुके हैं कि दण्डी जी काशी गमन तथा हरद्वार

को निवृत्ति काल में दो बार सोरों ठहरे थे। इन दो समयों में एक बार या दो बार दण्डी जी का चातुर्मास्य सोरों में हुआ हो तो आश्चर्य नहीं।

सोरों में प्रज्ञाचक्षु जी का यह आगमन तीसरी बार था। आते ही प्रथम तो कुछ दिन मुख्य धारा पर गड़ियाँ घाट में ठहरे। तदुपरान्त वे सोरों आ गये, और विश्रान्त पर, पूर्वोषित स्थान पर, स्थित की, अब अनेक छात्र उनसे पढ़ने लगे। बदरिया के अंगदराम बुद्धसेन आदि इस प्रथम सोरों निवास के छात्र थे।

सोरों में विरजानन्द का चित्त अनेक विध उहापोहों से उद्विग्न रहता है। श्री दण्डी जी की चिन्ताएँ किंविषयक थीं यह मीमांसनीय है। वे एक आदर्श निस्पृह संन्यासी थे। अतः किसी सांसारिक वस्तु की चिन्ता से उनका दूर संबंध भी संभव नहीं था। उनका आध्यात्मिक जीवन न केवल स्वतः पुनीत प्रत्युत सम्पर्क में आने वालों को भी पवित्र बनाने वाला था, अतः तद्विषयक भी कोई चिन्ता, उद्वेग की सम्भावना नहीं है तब फिर उनकी चिन्ता थी किंविषयक?

स्वामी विरजानन्द "अहं ब्रह्मास्मि" की रट लगाने वाले, संसार से निर्लिप्त हो, अपने ही भोजन-छादन से परितुष्ट, स्वार्थी साधु न थे। वे अपनी देह के लिए तो कभी किसी के आगे हाथ पसारने का विचार भी न करते थे, तथापि अपने देशवासियों के कल्याण की कामना उनके हृदय में बड़ी प्रबल थी।

विरजानन्द ने महती क्रान्तियों का प्रत्यक्ष किया था। पंजाब में महाराजा रणजीतसिंह का जन्म इनके दो वर्ष पश्चात् हुआ था और गंगा तट पर आ जाने पर भी पंजाब की सारी घटनाएँ उन्हें सुविदित थीं। यतिवर्य का जन्म सं० १८३५ (खीष्टाब्द १७७८) में हुआ। भारतवर्ष में अंग्रेजों का महान् उदय सारा का सारा विरजानन्द जीवन-काल में ही हुआ था। (सं० १८५० खी. १७९३) में जब वे हृषीकेश पहुँचे थे तो अंग्रेजों का उस प्रदेश से कोई सम्बन्ध न था, पर सं० १८६०

(खी० १८०३) में जब उन्हें काशी पहुँचे चार वर्ष व्यतीत हो गये थे तो अंग्रेजों का देहली पर अधिकार हो गया था।

सं० १८८० (खी. १८२३) के लगभग दण्डी जी सोरों पहुँचे थे। इससे अनेक वर्ष पूर्व, जाटों और अंग्रेजों के प्रसिद्ध युद्ध हो चुके थे। गोरखों से युद्ध (सं० १८७३ = खी० १८१६), दुर्दान्त पिण्डारियों का दमन तथा मराठा शक्ति का दीप-निर्वाण (सं० १८७३ से १८७५ = खी० १८१६–१८१८) सब विरजानन्द की सुविज्ञात घटनाएँ थीं। सं० १८७९ (खी० १८२२) में अंग्रेजों ने प्रथम बार कोटे के हाडा राजपूतों की तलवारों की निर्मल धाराओं में स्नान किया था। किं बहुना, अंग्रेजों का सारा भारतवर्ष का महोत्कर्ष काल विरजानन्द का जीवन काल था और विरजानन्द इस सबसे सुपरिचित थे।

मतमतान्तरों ने देश की क्या दुर्दशा कर डाली थी—इसका जानकार विरजानन्द के समान दूसरा न था। भारतीय विद्वान् ब्राह्मण, अपने साम्प्रदायिक क्रिया-कलापों से ही सन्तुष्ट रहते थे और उसी को परम धर्म समझते थे। पर विरजानन्द थे निखिल-तन्त्र-स्वतन्त्रमति, वे पर प्रत्यय-नेय न थे। उनकी नकेल दूसरों के हाथ में न थी। वे अपनी सूक्ष्म धिषणा से तत्त्व-निर्णय में समर्थ थे।

देश की धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों के जैसे अभिज्ञ विरजानन्द थे वैसा दूसरा न था। अपने देशवासियों के कल्याण की चिन्ता ही विरजानन्द की चिन्ता थी।

स्वा० दयानन्द सरस्वती (जन्म नाम मूलशंकर) का प्रादुर्भाव टंकारा (सौराष्ट्र) में सं० १८८१, फाल्गुन वदी १० शनिवार, मूल नक्षत्र (१२–२–१८२५) को हुआ था। इस समय श्री दण्डी जी सोरों में तप परायण थे और देश की कल्याण-चिन्ता से व्यथित थे।

दण्डी जी सोरों से एक बार कासगंज जाकर वहाँ कुछ काल रहे थे। इसी अवसर पर सम्भवतः राजा दिलसुखराय कुलश्रेष्ठ का परिचय उनसे

हुआ। वे इनके पवित्र जीवन व विद्वत्ता से प्रभावित हो, इनके भक्त बन गये। इन कुलश्रेष्ठ महाशय की चर्चा आगे मथुरा यात्रा के अवसर पर आयेगी।

कासगंज से दण्डी जी महावट (७ कोस) जाकर वहाँ भी कुछ दिन रहे थे।

यह कासगंज तथा महावट का निवास प्रथम सोरों निवास काल से सम्बद्ध है, या द्वितीय से, यह हम अभी नहीं जान सके हैं।

---

१०. अलवर-नृपति-समागम

(सं० १८८९)

दण्डी जी कभी-कभी सोरों के विश्रान्त घाट से गंगा की धारा पर स्नानार्थ एकाकी ही चले जाते थे। सं० १८८९ वैशाख मास कृष्ण पक्ष में एकबार वे इसी प्रकार गड़िया घाट पर स्नानार्थ गये थे और गंगा में खड़े होकर शंकराचार्य विरचित विष्णुस्तोत्र † की आवृत्ति कर रहे थे। विरजानन्द यद्यपि पञ्जाबी थे और प्रायः पंजाबियों का संस्कृतोच्चारण उत्कृष्ट नहीं होता, पर प्रज्ञाचक्षु जी तो बारह वर्ष की अवस्था में ही घर से चल दिये थे और उनकी सम्पूर्ण शिक्षा-दीक्षा सर्वश्रेष्ठ विद्वानों द्वारा गंगा तट पर ही सम्पन्न हुई थी। उनका उच्चारण अति विशुद्ध था और उनका पाठ-प्रकार अपूर्व था।

अलवरनरेशों में एक बड़े तेजस्वी, गुणानुरागी विद्वत्प्रिय विनयसिंह हुए हैं। इनका जन्म सं० १८६५ आश्विन वदी एकादशी को हुआ

---

† पं० मुकुन्ददेव ने लिखा है गंगास्तोत्र पढ़कर महिम्न का पाठ कर रहे थे।

था और छै वर्ष की अवस्था में ही ये राजा (महाराव राजा सवाई विनयसिंह) बन गए थे। अपनी २३॥ वर्ष की अवस्था में ये गंगास्नान को शूकर क्षेत्र आए। विरजानन्द की विष्णु-स्तोत्र की आवृत्ति के समय ये भी गंगा तट पर उपस्थित थे। दण्डी जी की माधुरी-भरित ललित आवृत्ति ने विनयसिंह पर वशीकरण का कार्य किया। वे मुग्ध होकर, चित्र बन खड़े, उस आवृत्ति को सुनते रहे। विरजानन्द इस समय ५३॥ वर्षीय महान् तपस्वी बिन्दुविजयी ब्रह्मचारी थे। योगासनों के तथा प्राणायाम के अभ्यासी थे। उनका मुखमण्डल ब्रह्मचर्य तथा तप से अति तेजस्वी तथा योगसाधना जनित कान्ति से कमनीय था। वे अप्रधृष्य होते हुए भी उपगम्य थे। विनयसिंह उनके व्यक्तित्व से अतीव प्रभावित हुए। जब तक दण्डी जी पाठ करते रहे महाराज उसमें खो से गए। वे अविचल भाव से तन्मय होकर सुनते रहे। जब दण्डी जी अपना आह्निक दैवकृत्य समाप्त कर गंगा तट से चलने लगे तो उन्होंने समीप जाकर-यथोचित अभिवादन-पूर्वक अपने साथ अलवर चलने की विनम्र प्रार्थना की। दण्डी जी ने उत्तर दिया "आप राजा हैं और मैं त्यागी। मेरा आपका क्या सम्बन्ध ? मैं आपके साथ क्यों जाऊँ ?"

अलवरेन्द्र को इस निषेध से बहुत दुःख हुआ, पर वे भग्नोद्यम न हुए और उनकी स्वीकृति प्राप्त करने के लिये उपाय खोजने लगे। लोगों से उनको ज्ञात हो गया कि दण्डी जी विद्या-प्रसंग के बिना कथमपि कहीं न जाएँगे। अतः उन्होंने पुनः उनके स्थान पर उपस्थित हो अपना व्याकरणाध्ययनाभिलाष प्रकट कर चलने की पुनः साग्रह प्रार्थना की।

यतीन्द्र तथा नरेन्द्र दोनों का संलाप दोनों बार संस्कृत में ही हुआ था, यतः विरजानन्द गृहत्याग के समय (१२ वर्ष के वय) से केवल देव-वाणी ही बोलते थे और विनयसिंह जी थोड़ी थोड़ी संस्कृत उससे पूर्व सीख चुके थे। अलवरेन्द्र ने तीन घंटे नित्य नियम पूर्वक

पढ़ने की प्रतिज्ञा की और कह दिया कि यदि मैं वचन-भङ्ग करूँ तो आप अलवर से आ सकते हैं।

---

११. अलवर निवास

(सं० १८८९–१८९२)

दण्डी जी अपने नये शिष्य के साथ अलवर पहुँचे। बदरिया निवासी पुराना शिष्य अङ्गदराम भी साथ गया। इस यात्रा में मथुरा तथा भरतपुर से भी श्री दण्डी जी का परिचय अनायास हो गया और कदाचित् मुरसान से भी।

विनयसिंह अति कुशाग्र बुद्धि तथा तेजस्वी थे। ये महान् विद्या-प्रेमी तथा विद्वत्सेवी थे। उन्होंने न-केवल स्वयं परिश्रम-पूर्वक संस्कृत पढ़ी थी, अपितु रानियों को भी पढ़ाई थी। उनकी सभा में पं. रूप नारायण, शालिग्राम, शिवप्रसाद तथा लक्ष्मण शास्त्री नामक उच्च विद्वान् थे। उसमें ख़ैराबाद (पञ्जाब) निवासी फ़जलहक़ नामक सुशिक्षित अरबी फ़ारसी का विद्वान् भी था। उसे ३००) मासिक वेतन मिलता था। उनके संगीताचार्य, चित्रकार आदि सब उच्चकोटि के कलाकार थे। विनयसिंह का बनाया सरस्वती भाण्डागार (पुस्तकालय), दुर्लभ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का महार्ह संग्रह है। इसमें संस्कृत के साथ अरबी फ़ारसी के महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थों का भी प्रचुरता से संग्रह किया गया था। कुरानशरीफ की एक पुस्तक पर ५० सहस्र रुपये व्यय हुए थे। गुलिस्ताँ २ लाख रुपये में लिखवाई गई थी। अलवर का यह प्रसिद्ध सरस्वती-भाण्डागार विनयसिंह के विद्यानुराग को शतमुख से उद्घोषित करता है। विनयसिंह के महान् प्रयत्नों ने अलवर को भी कुछ समय प्रसिद्ध विदुष्मती नगरी बना दिया था। काशी के प्रसिद्ध पण्डित स्वामी राममिश्र भी अलवर की उपज थे।

अल्वर के प्रभूत उच्च पण्डितों ने भारत के विविध प्रान्तों में प्रचुर सम्मान व धन पाया तथा अल्वर को कीर्तिमती बनाया। अल्वर का राजप्रासाद कुछ समय तक परस्पर विरोधिनी लक्ष्मी तथा सरस्वती का संगम स्थल बन गया था †।

विनयसिंह जैसे विद्यानुरागी तथा विद्योत्साही थे वैसे ही शासन-कार्य में कठोरतर न्याय के पक्षपाती थे। कभी-कभी वे कुपित हो यम-राज सा भयंकर रूप धारण करते थे और एक ही आज्ञा से एकाधिक शिर भी धड़ से पृथक् करा देते थे।

ऐसे आपाततः विरोधी गुणों के संगम स्थल विद्वत्सेवी विनयसिंह विद्या, प्रतिभा, पवित्रता, त्याग तथा तेजस्विता के राशि विरजानन्द के सम्पर्क में आकर उन्हें अपनी राजधानी में लाये बिना सन्तोष लाभ न कर सकते थे। वे विविध अनुनय-विनय तथा नियमित अध्ययन की प्रतिज्ञा कर, उन्हें साथ लाकर सन्तोषामृत-तृप्त हुए। नवयुवक विनयसिंह के आगामी विकास में दण्डी जी का बड़ा भाग था।

यतिभूषण विरजानन्द अल्वर पुरन्दर के साथ सं० १८८९ के वैशाख में अल्वर आ पहुँचे। कटरा में, जगन्नाथ मन्दिर के पास एक बड़ा गृह उनके निवास के लिये नियत हुआ। किसी-किसी ने उनका मुंशी बाग में निवास बताया था पर श्री. देवेन्द्रनाथ इसे ठीक नहीं मानते। कदाचित् कभी कुछ थोड़े दिन वहाँ वास रहा हो। भोजन-सामग्री राज-

---

† २४०० वर्ष प्राचीन महाकवि आदि कालिदास (शकुन्तलाकार) ने विक्रमोर्वशीय के अन्त में भरत वाक्य में लिखा है—

'परस्पर विरोधिन्योरेक-संश्रय-दुर्लभम्
संगतं श्रीसरस्वत्योर्भूतयेऽस्तु सदा सताम्।'

परस्पर विरोधिनी लक्ष्मी और सरस्वती का एक स्थान पर संगम अति कठिन है। वह इस राजा (शूद्रक) के समय में हो गया। यह संगम भले पुरुषों के लिये सुखदायी हो।

भाण्डार से आती थी। मित्रसेन नामक ब्राह्मण पाचक † नियत हुआ। स्वेच्छानुरूप क्रयार्थ एक रुपया प्रतिदिवस राज्य से भेंट निश्चित हुई। वस्त्र-परिधान का अलवर-नरेश सदा ध्यान रखते ही होंगे। महाराज की जन्मतिथि तथा अन्य विशिष्ट पर्वादि अवसरों पर विशेष उपहार प्रस्तुत अवश्य होते रहे होंगे।

अलवरेन्द्र के पढ़ने का समय व स्थान निश्चित हो गया और श्री. दण्डी जी निश्चित समय पर राजकीय सवारी में राजप्रासाद में जाकर उन्हें पढ़ाने लगे। प्रधान मन्त्री श्री. पं० रूपनारायण के सम्पर्क से अलवर मही महेन्द्र की संस्कृत में अल्पगति तथा स्वल्प सम्भाषण क्षमता तो पूर्व से ही थी। अब वे दण्डी जी से व्याकरण पढ़ने लगे। यतिमूर्धन्य ने उन्हें वरदराजकृत लघुसिद्धान्त-कौमुदी पढ़ाना प्रारम्भ किया। ततः अलवरेन्द्र की इच्छानुरूप एक नया ग्रन्थ "शब्द बोध" बनाकर उन्हें पढ़ाया।‡ दण्डी जी जैसे उत्कृष्ट पण्डित थे, वैसे ही अध्यापन कला-प्रवीण भी थे। वे कहा भी करते थे—"वक्तुरेवहि तज्जाड्यं श्रोता यत्र न बुध्यते" अर्थात् वक्ता यदि श्रोता को अपना अभिप्राय हृदयंगम न करा सके तो यह वक्ता की ही जड़ता है।

अलवर में दण्डी जी के तीन शिष्य १—नरेश, २—अङ्गदराम (बद-रिया निवासी), ३—प्रेम सुख (अलवर वासी) तो उनसे नित्य पढ़ते ही थे। अवश्य ही कुछ अन्य लोगों ने भी अध्ययन किया होगा, पर इस विषय में हमें कुछ ज्ञात नहीं है। अध्यापन से बचा समय भगवद्-भक्ति, चिन्तनमनन में यापित होता था।

अलवर का सरस्वती भाण्डागार अपने सुविकसित रूप में तो बहुत पीछे आ सका होगा। दण्डीजी के अलवर निवासकाल में उसका

---

† श्री. दण्डी जी के पाचक का पुत्र मथुरा में ५—७ लक्ष की रियासत का स्वामी बना। (श्री. पं० मुकुन्द देव)

‡ देखो परिशिष्ट सं० १।

प्राञ्जल प्रारम्भ सम्भवतः हो चुका होगा। उसके सुविकसित रूप में दण्डीजी की शिक्षा ने पर्याप्त भाग लिया होगा।

प्रज्ञाचक्षु जी की उज्ज्वल मेधा, शास्त्रपारदर्शिनी मति तथा सूक्ष्मेक्षिका को देखकर तथा इससे भी अधिक महाराज विनयसिंह की उनके प्रति अपार श्रद्धा को देखकर अलवरीय पण्डितगण सदा उनके प्रति द्वेष-परायण रहते थे। उनसे जब तब दण्डीजी का शास्त्रार्थ भी छिड़ जाता था और प्रायः वे सब परास्त होते थे, पर अलवर निवास काल तक विरजानन्द मथुरावत् परितिष्ठित न हो पाए थे, अतः यदि कभी भूले-भटके किसी न किसी प्रकार वे इनको निग्रह स्थान में ला पाते थे तो सातिशय प्रफुल्ल होते थे। अनेक उच्चतम विद्वानों से निरन्तर संघर्ष की अनेक वर्ष पर्यन्त स्थिति ने अवश्य ही विरजानन्द की शास्त्र-मल्लता को सुविकसित किया होगा और वे कुछ वर्ष पश्चात् मथुरा पहुँचने तक अजेय विचार-मल्ल बन गए थे।

स्वामी विरजानन्द जी सरस्वती का मनुष्य जाति को सर्वश्रेष्ठ दान है "आर्ष ग्रन्थों की उपादेयता का सिद्धान्त"। इस सिद्धान्त का बीज-वपन तो व्याकरण विषय में स्वा० पूर्णानन्द जी ने किया था। हम काशी के वृत्तान्त में देख चुके हैं कि स्वामी विरजानन्द को शब्दानुशासन (अष्टाध्यायी) के कुछ अंश अवश्य कण्ठस्थ थे। सो, आरम्भ तो इस विचार का व्याकरण के आर्ष ग्रन्थ (शब्दानुशासन तथा महाभाष्य), कि अनार्ष ग्रन्थों की तुलना से हुआ था; पर इस समय तक यह विचार अधिक व्यापकता प्राप्त कर चुका था। तथापि यह विचार-धारा अभी पूर्ण परिपाक से बहुत दूर थी। हम मथुरा-वृत्तान्त के वर्णन में इस प्रसंग की पुनः चर्चा करेंगे।

श्री दण्डी जी का अलवर-निवास प्रायः ३॥ वर्ष रहा होगा। सर्वत्र अप्रधृष्य तेजस्वी नरेन्द्र विनयसिंह पण्डितजन के साथ प्रायः विनम्र रहते थे, पर दण्डी जी के साथ तो वे अतीव त्रस्त-भाव से बरतते थे।

उनका अध्ययन अनवच्छिन्न नियमित रूप से चलता रहा । उनको राज्य में प्रतिवर्ष जन-सम्पर्क-यात्रार्थ भी जाना पड़ता होगा । इन दौरों के समय में सम्भवतः दण्डी जी भी साथ जाते होंगे । हाँ, दो-चार दिन को विनयसिंह जी कहीं अलवर से बाह्य जाते होंगे तो सम्भवतः अवकाश माँग जाते होंगे । विजयादशमी आदि पर्व तथा अन्य विशिष्ट अवसरों पर तो अनध्याय रहता ही होगा । दण्डी जी ने विनयसिंह को, शब्द-बोध, रघुवंश, विदुर-प्रजागर, तर्क-संग्रह आदि पढ़ाकर अच्छा संस्कृतज्ञ व संस्कृतभाषी बना दिया था ।

हम ऊपर कह आये हैं कि प्रायः ३॥ वर्ष विनयसिंह का अध्ययन नियमित रूप से अनवच्छिन्न चलता रहा । पर एक दिन दण्डी जी राज-प्रासाद में यथानियम नियत समय पर शिविकारूढ़ हो पहुँचे, पर विनय-सिंह बिना सूचना अनुपस्थित थे । विरजानन्द उचित समय तक प्रतीक्षा कर, क्षुब्ध हो, स्व-स्थान पर चले आए और अलवर-त्याग का दृढ़ संकल्प कर लिया ।

विनयसिंह स्व-वचन-भङ्ग से अनुतप्त थे और पूज्य गुरुवर्य का अलवर-त्याग-संकल्प जान अत्यन्त सन्तप्त और मर्म-विद्ध हुए । यद्यपि वे जानते थे कि गुरुदेव एक बार निश्चय करके कदापि न बदलेंगे, पर उन्होंने स्वयं दण्डी जी के स्थान पर उपस्थित होकर अनुनय-विनय में, क्षमा-याचना में कोई कोरकसर न रखी, पर दण्डी जी अपने संकल्प पर पर्वतवत् दृढ़ रहे । सरल शब्दों में कह दिया "अब मैं यहाँ नहीं रह सकता ।" वचन-व्यतिक्रम होने पर न आपको रोकने का विचार करना उचित है और न मुझे रुकने का । और उसी समय घर में उपस्थित फल मँगा कर उनको आशीर्वाद दिया । अलवर नरेश ने २५००) की स्वर्णमुद्रायें मँगाकर भेंट कीं । दण्डी जी इन स्वर्णमुद्राओं तथा आवश्यक पुस्तकादि सामग्री लेकर दूसरे दिन प्रभात, शिष्य अङ्गदराम के साथ भरतपुर को चल पड़े । कहते हैं शीघ्रतावश अनेक पुस्तकें तथा पर्याप्त रुपया भी वहाँ रह गया ।

सब लेखकों ने माना है कि अपने जपानुष्ठान से विनयसिंह को पुत्र-रत्न प्राप्त कराने वाले मतिराम ब्राह्मण के अत्यधिक सत्कार से † विरजानन्द अलवर से विरक्त हो गए थे। पर यह नितान्त असत्य है। दण्डी जी अलवर से सं० १८९२ के उत्तरार्द्ध में चले गये थे और विनयसिंह के पुत्र शिवदानसिंह का जन्म सं० १९०२ भाद्र शु० १३ रवि० (१४-९-१८४५ को) अर्थात् दण्डी जी के जाने के प्रायः दस वर्ष पश्चात् हुआ। अतः मतिराम की सविशेष राज-प्रासाद भाजनता निश्चय ही दण्डी जी की अलवर विरक्ति का मूल न थी।

शिवदानसिंह के जन्मकाल तक दण्डी जी मथुरा पहुँच चुके थे। सम्भव है उक्त सत्कार का व्यतिकर सुन उन्होंने कहा हो—'एक अविद्वान् इतने अधिक सत्कार का अधिकारी न था।' पर इस बात का अलवर त्याग से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है।

अलवर नरेश का राज्यकाल अतीव संकटमय परिस्थितियों से भरा हुआ था। ब्रिटिश शासन की आज्ञा से सं० १८८३ में राज्य के पर्याप्त उत्तरी भाग का पृथक् राज्य बन गया था। इन बलवन्तसिंह की राजधानी तिजारा थी। सुना जाता है कि दण्डी जी की उत्तम संमतियों ने विनयसिंह का अनेक कठिन परिस्थितियों से उद्धार किया था।

---

† अलवर राजप्रासाद में मतिराम ब्राह्मण ने जपानुष्ठान किया था। कुमार का जन्म होने पर महाराज ने घोड़ा, पालकी व प्रभूतधन (सर्व द्रव्य का समुदित मूल्य अनुमानतः ८०-९० सहस्र) से उसका सत्कार किया था।

लोगों का कथन है कि 'दण्डी जी अविद्वान् के इतने सत्कार से असन्तुष्ट थे, अतः अलवरेन्द्र की अनुपस्थिति का व्याज मिलते ही अलवर से चल पड़े।' पर यह बात चण्डूखाने की गप्प से अधिक नहीं।

अलवर अद्भुतालय में एक कल्मी चित्र मिला है। उस पर नामोल्लेख नहीं है। अनुमान किया गया है कि वह दण्डी जी का चित्र है। चित्रकला विशेषज्ञों को देखना चाहिये कि इसका दण्डी जी के प्रसिद्ध चित्र से आकृति साम्यमय है अथवा नहीं।

दण्डी जी का स्वर्गवास ९० वर्ष की आयु में हुआ। उनके शव का चित्र लिया गया था। उसी के आधार पर दण्डी जी के शिष्य जुगलकिशोर जी ने विरजानन्द जी का बैठा हुआ कल्मी चित्र बनवा कर प्रकाशित किया था।

पूर्व कल्मी चित्र यदि दण्डी जी का है तो वह चित्र दण्डी जी को ५७ वर्ष की अवस्था में देखने वाले कुछ समय पश्चात् किसी मुसल्मान चित्रकार द्वारा कुछ समय पश्चात् बनाया गया है। दण्डी जी के अलवर त्यागने पर यह विनयसिंह ने बनवाया होगा।

मुसल्मान चित्रकार दण्डी जी को यज्ञोपवीत पहनाने की भूल कर सकता है। अनेक वैरागी आदि हिन्दू साधू यज्ञोपवीत पहनते हैं। मुसल्मान, हिन्दू-साधुओं के सूक्ष्म-वेश-भूषा-भेदों से अभिज्ञ न हों तो कोई बड़ी बात नहीं। यदि चित्र-कला के पारखी दूसरे चित्र से आकृति साम्य पाते हैं तो यज्ञोपवीत मात्र से वह त्याज्य नहीं हो सकता। सर्वथा उपादेय है।

"अलवर से सोरों की यात्रा"

(सं० १८९२-१८९३)

(मार्ग में भरतपुर, मुरसान, बेसवाँ का निवास)

अलवर से भरतपुर ७८ मील है। श्री दण्डी जी स्वशिष्य अङ्गदराम सहित डीग व कुम्हेर होते हुये भरतपुर पहुँचे। नाम-संकीर्तन-मात्र से दुर्दान्त वैरियों के हृदय में हडकम्प मचा देने वाले वीराग्रणी श्री महाराजा सूर्यमल्ल (सूरजमल) के वंशधर महाराजा बलवन्तसिंह अंग्रेजों की सहायता से सं० १८८२ के अन्त में† सिंहासनाऽऽसीन हुए थे। उन्होंने श्री दण्डी जी का अच्छा सत्कार किया। दण्डी जी यहाँ छैः मास रहे‡। चलते समय भरतपुराधीश्वर ने ४००) तथा एक वरीयः (बढ़िया) दुशाला भेंट किया।

भरतपुर से प्रस्थित होकर दण्डी जी मथुरा होते हुए अङ्गदराम सहित मुरसान पहुँचे। यहाँ राजा साहब श्री टीकमसिंह ने अनेक दिन उनका सत्कार किया। मुरसान से चलकर वे बेसवा* के राजा गिरधर

---

† श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने महाराज बलवन्तसिंह का १८२५ खीष्टाब्द में गद्दी पर बैठना लिखा है, सो ठीक नहीं है। ये ५-२-१८२६ को गद्दी पर बैठाये गये थे।

‡ श्री मुखोपाध्याय ने इस यात्रा में भरतपुर व मुरसान जाना वर्णन नहीं किया। सोरों के वर्षयिष्माण द्वितीय परित्याग के अनन्तर मुखोपाध्याय जी ने उनका सोरों से मुरसान जाकर ठहरना वहाँ से सम्भवतः मथुरा होते हुए भरतपुर जाकर रहना और वहाँ से मथुरा जाना लिखा है। यह समञ्जस नहीं है।

* कुछ लोगों ने सं० १८९३ में मथुरा में जाकर निवास वर्णन किया है, वे अत्यन्त भ्रांत हैं। वस्तुतः इस समय दण्डी जी का सोरों का पुनर्वास आरम्भ हुआ था।

सिंह जी के कुछ समय अतिथि रहे। तदनन्तर बेसवाँ से मुरसान होते हुए सोरों पधारे †।

इस समय सम्भवतः १८९२ चल रहा था ‡।

---

१३. शूकर क्षेत्र—द्वितीय निवास

(सं० १८९३-१९०२)

सोकर व (सोरों) आकर श्री दण्डी जी अपने पूर्वोषित विश्रान्त घाट पर एक पृथक् स्थान में रहने लगे। अङ्गदराम आदि छात्र उनके पास पढ़ने लगे। प्रायः प्रतिदिन कोई सम्पन्न महानुभाव आपके दर्शन को आते और श्रद्धा पूर्वक भेंट धर जाते। इस प्रकार आपको व्यय की कोई कठिनता न थी। सर्व प्रकार का सुख था। अब आपका कहीं जाने का विचार न था। सदा के अभ्यासानुसार अध्यापन, मनन तथा भगवच्चिन्तन की शोभन वृत्ति से जीवन का सदुपयोग हो रहा था। इनके कारण विश्रान्त का महत्त्व बहुत बढ़ गया था। अतः वहाँ के अध्यक्ष इनसे बहुत प्रसन्न थे।

इसी प्रकार सोरों में पढ़ाते अनेक वर्ष व्यतीत हो गए। उनका जीवन अति पावन कार्यों में लग रहा था, तथापि उन्हें सन्तोष न था। सर्वत्र दम्भ, पाखण्ड का विस्तार और विद्या के नाम पर अविद्या का प्रचार हो रहा था। धर्म की ओट में प्रायः अधर्म का अनुष्ठान चल रहा था। देश की राजनीतिक पराधीनता प्रतिदिन बढ़ रही थी।

---

† श्री मुकुन्ददेव जी ने ८-१० मास रहना लिखा है।

‡ बेसवाँ जाने का वर्णन केवल पं० मुकुन्ददेवजी ने ही किया है।

आर्थिक अवस्था बिगड़ती जा रही थी। इस सबको देखकर विरजानन्द का हृदय अतीव व्यथित था। वे नेत्रहीन होने से, अपने को विद्या व धर्मक्षेत्र में भी अनीति-निवारण में सर्वथा अकिंचित्कर अनुभव करते थे। अन्तर्वेदना उन्हें अधिकाधिक व्यथित करने लगी और वे मर्मन्तुद पीड़ा अनुभव करने लगे। वे सोचने लगे कि सवा छियासठ वर्ष के वय तक मैं कुछ न कर सका। तो आगे जरा-जीर्ण अवस्था में क्या कर पाऊँगा।

घोर दुश्चिन्ता से आपको ज्वर हो गया। तीन दिन लगभग निश्चेतनता में बीते। चौथे दिन कुछ चेतना हुई। उस दिन आपने अध्यापन किया। परिश्रान्ति से ज्वर ने प्रचण्डरूप धारण कर लिया। अनेक दिन पुनः मूर्च्छित प्रायः रहे। ग्यारहवें वा बारहवें दिन पुनः चेतना हुई। जीवन की आशा न रही थी। अब आपने अपना सर्वस्व विद्यार्थियों में बाँट दिया। फिर कहा "इस शरीर को गंगा जी की धारा में प्रवाहित कर देना" इससे अधिक कुछ न कह सके।

इसी अचेतन-प्राय अवस्था में दो तीन दिन और व्यतीत हो गए। दशा गिरती हुई प्रतीत हो रही थी। दण्डीजी के एक वात्सल्य-भाजन शिष्य ने अवशिष्ट सर्वस्व ले लिया। एक किराये का छकड़ा लेकर उसमें अचेतन दण्डीजी को लिटा दिया। लिटाकर एक चादर से ढँक दिया। गाड़ी वाले से कह दिया—धारा पर ले जाओ। यदि मार्ग में प्राण छूट जाएँ तो धाराजी में डाल देना। यदि जीवित रहें तो तीर पर उतार देना। गाड़ी वाला दण्डीजी को प्रभात में ही लेकर चला था। धारा सोरों से प्रायः चार मील है। वह नौ बजे के लगभग गंगा तीर पर पहुँच गया। वह निर्णय न कर सका कि शरीर में प्राण हैं या नहीं, अतः उसने श्री दण्डीजी को किनारे पर ही उतार दिया तथा सम्पूर्ण दिवस वह उसी अवस्था में पड़े रहे।‡

---

‡ यह घटना केवल पं० मुकुन्ददेवजी ने वर्णन की है। मुझे सं० १९७८ पौष वदि ८ गुरु (२४–१२–१९२१ ख्री०) के लगभग

सोरों में उन दिनों एक सेवा-परायण उत्तम साधु मथुरादास वैरागी थे। इन्होंने वैष्णव साधुओं के लिये दो स्थान बनवाए थे। एक तो सोरों में अम्बागढ़ के पास। यह अब भी विद्यमान है। दूसरा स्थान सातुआ ग्राम में धारा (गढ़िया घाट) पर था। यह स्थान अब धारा ने काट दिया है। दोनों स्थान "मथुराजी की गद्दी" "मथुरादास जी की कुटी", अथवा "वैष्णव साधु छावनी", अथवा "छावनी" मात्र कहे

पं० मुकुन्ददेवजी के दर्शन का सौभाग्य उपलब्ध हुआ था। तब उन्होंने दण्डीजी की स्वलिखित जीवनी जो उस समय अपूर्ण थी, दिखाई थी। कुछ अन्य स्थलों के साथ इस स्थल की भी चर्चा हुई थी। वाचिक आलाप में उन्होंने इस अप्रिय काण्ड का कर्त्ता बदरिया वाले पण्डित अङ्गदराम को बताया था। इस बात पर हम न उस समय विश्वास कर सकते थे और न अड़तीस वर्ष उपरान्त आज कर सक रहे हैं। यदि ये अङ्गदराम इस अकाण्डकर्म के कर्त्ता होते तो आगे चलकर ऋषि दयानन्द कभी भी उनसे सुदृढ़ प्रेम-सूत्र में आबद्ध न हो सकते थे।

पीलीभीत के एक दूसरे अङ्गदराम भी अच्छे विद्वान् थे। ये बड़े अहंकारी थे। अपने को बृहस्पतितुल्य मानते थे। बदरियावासी अङ्गदराम ने इन्हें शास्त्रार्थ में परास्त किया था। ये दूसरे अङ्गदराम भी दण्डीजी के शिष्य थे। कदाचित् दण्डीजी के पास उस समय अधीयमान छात्रों में वे प्रमुख होंगे। उनके द्वारा ऐसा आचरण सम्भव हो सकता था। सम्भवतः मुकुन्ददेवजी को इन दूसरे अङ्गदराम का ज्ञान न होगा। अत: उन्होंने उस कलुष का कर्त्ता बदरियावासी अङ्गदराम को मान लिया होगा। प्रसिद्ध है कि बदरिया वासी अङ्गदराम ने इस रुग्णता में दण्डीजी की अच्छी सेवा की थी। यह सेवा कदाचित् मथुरादास की कुटी में की हो। बदरिया के अङ्गदराम (सं० १९०२) से पर्याप्त समय पूर्व अपना अध्ययन समाप्त कर चुके थे।

जाते थे। गढ़िया घाट की छावनी में १००-२०० साधु बने ही रहते थे। इस बृहत् संख्या में से एक दो साधुओं का किसी न किसी कार्य से, धारा पर आते-जाते रहना, स्वाभाविक ही था। उस दिन भी गढ़ी के एक साधु ने सायं समय के समीप श्री दण्डीजी को अचेतनावस्था में धारा पर पड़े देखा और उसने शीघ्रतर श्री महन्त मथुरादासजी को सूचित किया कि "एक संन्यासी मूर्छित अवस्था में पड़ा है"। सेवा-व्रती मथुरादासजी समाचार सुनते ही पाँच-सात साधुओं सहित वहाँ पहुँचे। आकर देखा तो पहचाना कि ये तो दण्डीजी हैं। उन्होंने नाड़ी देखी तो प्राण शेष थे। उन्होंने तुरन्त एक अच्छी खट्वा मँगाई और उस पर लिटाकर उनके शरीर के कुछ भाग को एक चादर से ढककर उन्हें गढ़ी में ले आए। रात्रि भर समझदार साधुओं की देख-भाल में उनको रखा।

प्रभात में श्री दण्डीजी चेतन होकर बैठ गए और उन्होंने प्रणव (ओ३म्) का उच्चारण किया। परिचर्या-परायण साधुओं से समाचार सुन श्री मथुरादासजी आ गए। शरीर-शुद्धि तथा दन्त-धावनादि कराके मुद्गदाली का यूष (पानी) सेवन कराया। तीन चार दिन की मथुरादासजी की सेवा से दण्डी जी स्वस्थ हो गए। निर्बलता शेष रही। दण्डीजी की इच्छा विश्रान्त पर स्वस्थान पर जाने की हुई, पर मथुरा-दासजी ने विनयपूर्ण आग्रह सहित दुर्बलता दूर होने तक उन्हें रोके रखा। स्वयं भी सदा उनके संनिहित रहे। प्रस्थान की इच्छा हो जाने पर दण्डीजी को बड़े-बड़े राजा-महाराजे भी न रोक सकते थे। परन्तु भक्त-साधु के सुमहान् अनुराग के वशीभूत हो रुके रहे।

बदरिया के अङ्गदराम बड़े गुरु-भक्त थे। उनकी विद्यमानता में कोई अन्य स्वार्थी शिष्य भी दण्डीजी के साथ उपर्युक्त आचरण नहीं कर सकता था। वे विद्याध्ययन चिरपूर्व समाप्त कर चुके थे। भोग प्रबल होता है। सम्भव है दण्डीजी की रुग्णता के प्रारम्भिक काल में वे किसी

कारणवश सोरों से बाहर गए हुए होंगे। पर प्रसिद्धि है कि उन्होंने दण्डीजी की इस रुग्णता में बड़ी सेवा की थी। यह अवसर सम्भवतः उन्हें मथुरादासजी की कुटी पर मिला होगा †।

बल प्राप्त होने पर श्री दण्डीजी ने विदा माँगी। मथुरादासजी ने उन्हें गाड़ी में सवार कराया और एक साधु को विश्रान्त तक पहुँचा आने को साथ भेजा। स्वयं भी कुछ दूर तक पहुँचाकर लौट आए।

---

† ये बदरिया के अङ्गद बड़े विद्वान् हुए हैं। इनका जन्म सं० १८७० में हुआ था। विरजानन्दजी के पूर्व निवासकाल में ये उनके शिष्य बने थे। अलवर साथ गए थे। दण्डीजी के द्वितीय सोरों के आरम्भ तक इनका अध्ययन चलता रहा था। ये व्याकरण-न्याय-काव्य के व्युत्पन्न पण्डित थे। ऋषि दयानन्द से सोरों में सं० १९२५ के आरम्भ में इनका शास्त्रार्थ हुआ था और इन्हें भागवत की सदोषता स्वीकार करनी पड़ी। ये उनके शिष्य बन गए। दण्डी जी के दूसरे शिष्य महागर्वित आँवला (पीलीभीत) के अङ्गद जब ऋषि दयानन्द से शास्त्रार्थ के इच्छुक हुए तो इन बदरिया के अङ्गद ने उन आँवला के अङ्गद को शास्त्रार्थ में परास्त किया था। इनका स्वर्गवास ७५ वर्ष की अवस्था में सं० १९४५ में हुआ था। इनका राष्ट्र-विप्लव-काव्य अद्यावधि अप्रकाशित है।

तृतीय उल्लास—परिनिष्ठा-काण्ड (मथुरानिवास का कौमुदी-युग)

१४. सोरों से मथुरा

(सं० १९०२ ग्रीष्म)†

दण्डीजी सौकरव में विश्रान्त पर स्व निवासस्थान पर पहुँचे। ताला खुला पड़ा था। यतिवर्य शृङ्खला (सांकल) खोलकर अन्दर जा बैठे।

---

†श्री दण्डीजी का जन्म सं० १८३५ के माघ मास के लगभग हुआ था। सवा छयासठ वर्ष के होने पर वे रुग्ण हुए थे। अतः उनकी रुजाक्रान्तता प्रायः सं० १९०२ वैशाख की घटना है। इस रोगारम्भ के लगभग एक मास पश्चात् वे मथुरा को प्रस्थित हो गए थे। अतः यह यात्रा सं० १९०२ ग्रीष्मारम्भ की समझनी चाहिये।

श्री दण्डीजी ने धारा पर केवल एक चादर में दिन भर सायंसमय व रात भी काटी थी, अतः वह समय वसन्त ऋतु के उत्तरार्ध का समझना चाहिये। एवं भी प्रस्थान-काल ग्रीष्मारम्भ में समुचित है।

पं० मुकुन्ददेवजी ने स्वलिखित जीवनी में दो बार दण्डीजी का सं० १९१६ में मथुरा पहुँचना लिखा है। यह उनका सर्वथा भ्रान्त मत है।

अलवरेन्द्र विनयसिंह के पुत्र शिवदानसिंह का जन्म सं० १९०२ भाद्रपद सुदि १२ रवि (१४-९-१८४५) को हुआ था। इस हर्षावसर के उपलक्ष में अलवर-नरेन्द्र ने एक सहस्र रुपये श्री दण्डीजी की सेवा में भेंट भेजी थी। यह भेंट मथुरा में भेजी गई थी। अतः निश्चय ही दण्डीजी इस समय तक मथुरा आ गए थे। और उनका मथुरा पहुँचना अलवर महीपति को भी ज्ञात हो चुका था। श्री विनयसिंह का स्वर्गवास सं० १९१४ श्रावण कृ० ३ शुक्र (१०-७-१८५७) को हुआ था। दण्डीजी सं० १९१६ में मथुरा आते तो विनयसिंह मथुरा में उन्हें भेंट कैसे भेज सकते थे।

वहाँ के सब लोग दण्डीजी को लोकान्तरितों में गिन चुके थे, अतः उनको आया देख बड़े विस्मित हुए।

दण्डीजी का गृह, पुस्तक, वस्त्र, भोजनादि, परिच्छद से सर्वथा शून्य था। श्री दण्डीजी ने लोगों से कोई बात न की, केवल मथुरा जाने को एक गाड़ी किराये पर लाने को कहा। उनके सौभाग्य से एक गाड़ी शीघ्र मिल गई। इसे लौटकर मथुरा जाना था। श्री सरस्वती महोदय ने एक पूर्व परिचित मनुष्य को भृत्यरूप में साथ लिया और गाड़ी पर सवार हो गए।

श्री दण्डीजी के पास इस समय एक पैसा भी न था तथापि वे पूर्ण भगवदाश्रय-विश्वासी थे, अतः गाड़ी व भृत्य लेकर चल पड़े। गाड़ी का किराया तथा भृत्य की भृति तो मथुरा पहुँचकर देनी थी, पर बैलों का चार दिन का चारा, भूसा, दाना, रातब और स्वयं यदि चार दिन का उपवास भी ठान लें तो भृत्य का चार दिन का भोजन आदि व्यय तो प्रतिदिन कर्तव्य थे ही पर दण्डीजी को अपने भक्तिभाजन पर अटल विश्वास था।

नैषधीय चरित के कर्त्ता श्री हर्ष कवि ने ठीक लिखा है "क्व भोगमाप्नोति न भाग्य-भाग् जनः" (भाग्यशाली पुरुष को अपेक्षित पदार्थ कहाँ नहीं मिलता) यह कहावत दण्डीजी की यात्रा के प्रथम दिवस ही चरितार्थ हो गई।

बिलराम निवासी मनीषी दिलसुखराय कुलश्रेष्ठ कायस्थ थे। कुलश्रेष्ठों का भोजन अति सात्त्विक होता है। मद्य-मांस की तो कथा ही क्या? इन लोगों के घरों में लशुन-पलाण्डु (प्याज) भी प्रवेश नहीं पाते। अतः ये लोग प्रायः सात्त्विक-वृत्ति धर्म परायण होते हैं, तथा साधु-सन्तों की सेवा-शुश्रूषा में प्रसन्नता लाभ करते हैं।

मनीषी दिलसुखराय कुलश्रेष्ठ, दण्डीजी के बड़े भक्त थे। भगवान ने इनकी सद्वृत्ति के अनुरूप इन्हें वैभव भी प्रदान किया था। वे

आरम्भ में कासगंज के स्वामी कर्नल जेम्स गार्डनर की जमींदारी का कार्य करते थे। कर्नल जेम्स की मृत्यु होने पर दिलसुखराय ने स्व-संचित धन को नील बनाने के धन्धे में लगाया। इसमें इन्हें इतनी सफलता हुई कि इन्होंने कई ग्राम मूल्य ले लिये थे। इन्होंने सं० १९१६ में कर्नल जेम्स के पुत्र सुलेमान शिकोह (उपनाम मूना साहब) से कासगंज भी मोल ले लिया था।

दिलसुखराय ने सं० १९१४ में अंग्रेजों की अपनी पूर्णशक्ति से सहायता की थी। इसके फलस्वरूप इन्हें पाँच सहस्र की खिलअत तथा १५ सहस्र वार्षिक कर की रियासत तथा राजा साहब की उपाधि मिली थी। ये आनरेरी मैजिस्ट्रेट भी बनाए गए थे। पर ये सब बातें हमारे प्रस्तुत कथा भाग के बाद की हैं।

जिस दिन दण्डीजी सोंकरव से मथुरा के लिये चले थे, उसी दिन मनीषी दिलसुखराय † अपनी घोड़ा-गाड़ी में कासगंज से सोंकरव आ रहे थे। उन्होंने दण्डी जी को देख लिया और गाड़ी रुकवाकर प्रणाम किया तथा जयपुरी पाँच अशर्फियाँ भेंट कीं। यह भी निवेदन किया कि मथुरा से मेरे लिये सेवा अवश्य आदेश करते रहें। दण्डीजी ने एक अशर्फी के विनिमय में रुपये चाहे। उन दिनों जयपुरी अशर्फी का मूल्य २२ रुपए था। उस समय कुलश्रेष्ठ महाशय के पास ८ रुपये मात्र

---

† पं० मुकुन्ददेवजी ने दिलसुखराय के स्थान पर राजा शंकर सिंह व लक्ष्मणसिंह लिखा है, यह स्पष्ट ही अशुद्ध है।

शंकरसिंह दिलसुखराय के पुत्र थे। दिलसुखराय के देहान्त होने पर इन्हें भी राजा की उपाधि व मजिस्ट्रेट का पद मिला था। इन्होंने कासगंज में अपना सुन्दर प्रासाद बनवाया व वहाँ रहने लगे। इनका खी० १८९१ में देहान्त हुआ था। लक्ष्मणसिंह सम्भवतः शंकरसिंह के पुत्र होंगे।

थे। उन्होंने ये ८ रुपये और भेंट कर दिये और दण्डीजी के बहुत निषेध करने पर भी अशर्फी वापिस कर दी।

दण्डी जी प्रथम दिन नँदरई ठहरे। दूसरे दिन सिकन्दरा राऊ (अथवा रन्ती का नगला) ठहरे। तीसरी स्थिति मेंढ़ू (हाथरस) में हुई तथा चौथा विश्राम मुरसान में। एवं पञ्च प्रयाणकों (मंजिलों) में वे मथुरा पहुँच गए। चौबे लोग यात्रार्थी जान अपना परिचय देने लगे। दण्डीजी ने गूजरमल की हवेली पर पहुँचाने को कहा। अलवर के किसी नरेश ने मिश्र दयानन्द को ढाई तीन सहस्र की माफी दी थी, ये गूजरमल उन्हीं के वंशधर थे। एक वृद्ध चौबे ने पूछ-गछ करके दण्डी जी को अभिमत स्थान † पर पहुँचा दिया और दक्षिणा प्राप्त की। दण्डी जी ने भाटक व पुरस्कार देकर गाड़ी वाले को भी बिदा कर दिया। भृत्य को परिचर्यार्थ रख लिया।

---

† मैं, सं० २००३ कार्तिक में, मथुरा गया था। वहाँ लगभग एक सप्ताह ठहरकर पर्याप्त वृद्ध जन से मिला था। उस समय दण्डी जी के रहने के दो और भी स्थान बताए गए।

पं० युगलकिशोर दण्डी जी के प्रसिद्ध शिष्य थे। इनके ज्येष्ठ-भ्राता का नाम पं० श्रीधर था। इनके पौत्र नत्थीलाल जी ने कहा कि 'दण्डी जी सबसे पहले हमारे घर रहे थे। घर के एक विवाह का अवसर आने पर उन्होंने स्थान बदला था'।

यह है अपने घर का महत्त्व बढ़ाने को घड़ी हुई शुद्ध गप्प। विरजानन्द वहाँ नहीं रहे। एक सज्जन ने एक अन्य स्थान भी बताया, यह बात भी भ्रान्त है। कोई और दण्डी संन्यासी वहाँ रहे होंगे।

१५ "मथुरा में प्रथम वर्ष"

(सं० १९०२)

हमारे चरित नायक सौकरवसे अलवर जाते समय सं० १८८९ वैशाख में मथुरा होकर गए थे। इसी प्रकार वहाँ से लौटते हुये भी सं० १८९३ में मथुरा होकर यात्रा हुई थी। इन दोनों अवसरों पर उन्हें मथुरा की परिस्थिति का परिज्ञान हो गया था। मुकुन्ददेव जी ने लिखा है कि मथुरा में स्थानीय छात्र ८००—९०० थे तथा लगभग ४०० बाहर से आए हुए छात्र थे। सेठ गुरुसहायमल जी आगन्तुक छात्रों के भोजन-छादन की पूर्ण व्यवस्था करते थे। तीर्थ-यात्रार्थ समागत सेठ-साहूकार राजा महाराजा भी जब-तब पण्डितों के साथ ही, आगन्तुक छात्रों का भी दक्षिणादि द्वारा समादर करते रहते थे।

मथुरा में वैसे तो शताधिक पण्डित थे, पर ४०—५० तो सतत अध्यापन-सत्र ही चलाते थे। अध्यापन-रसिक विरजानन्द ने इसी आकर्षण से मथुरा-निवास का निर्णय किया था। तथापि प्रथम वर्षार्ध में योग्य छात्र दण्डीजी को नहीं मिले।

श्री विरजानन्द जी भागवत महापुराण का तीव्र खण्डन करते थे। अन्य पुराणों पर भी आस्था नहीं थी। अनार्ष ग्रन्थों से अरुचि हो चुकी थी, अतः उनमें भी दोष-दर्शन करते रहते थे। अतः मथुरास्थ समस्त संस्कृत-पाठी तथा तदनुयायी जन श्री दण्डीजी में वीत-श्रद्ध थे। बहु-संख्यक माथुर जनों ने तो श्री दण्डीजी के विषय में अपवाद फैलाना अपना कर्तव्य समझा हुआ था। मात्सर्य-दूषित-चेतसों के पतन की कोई सीमा नहीं होती। कोई कहता था—"यह दण्डी छीपा है।" कोई कहता था—"यह तो जुलाहा है।" लोग यहाँ तक झूठ बोलते थे कि—"यह कोट पहनता है।" कोई कहते थे—"यह पाजामा पहनता है। यह काषाय नहीं पहनता।" दण्डीजी शब्दानुशासन (अष्टा-

दण्डीजी का मथुरा पधारना अलवर-नरेश को ज्ञात हो गया था। इसी वर्ष (सं० १९०२) भाद्रपद शुक्ला १३, रवि (१४।९।१८४५) को अलवर-महाराज-कुमार शिवदान सिंह का जन्म हुआ। इस हर्ष अवसर पर महाराज विनय सिंह ने दण्डीजी को एक सहस्र मुद्रा भेंट में भेजी। श्री दण्डीजी को अलवर से आए प्रायः १० वर्ष हो चुके थे। इस सम्पूर्ण काल की दक्षिणा १५) मासिक के हिसाब से भेजी। अलवर के प्रेम सुख † विद्यार्थी को पत्र देकर साथ में भेजा और पत्र द्वारा व वाचिक अलवर पधारने की प्रार्थना पहुँचाई। दण्डीजी ने भक्त शिष्य की भेंट तो स्वीकार करली पर मथुरा छोड़ना स्वीकार न किया। विनय सिंह जी आगे भी १५) मासिक दण्डीजी को भेंट करते रहे थे। इन भक्त नरेश का स्वर्गवास सं० १९१४ श्रावण कृ० ३ शुक्र (१०।७। १८५७) को हो गया। यदि यह कुछ वर्ष और जीवित रह जाते तो दण्डीजी की अभीप्सित सार्वभौम सभा अवश्य करवा देते। पं० मुकुन्द देवजी ने लिखा है कि दण्डीजी गृह में डेढ़, दो मास से अधिक नहीं रहे, पर अलवर से भेंट प्राप्ति भी, इसी गूजरमल के घर में रहते, ध्वनित की है। अतः भाद्रपद समाप्ति से कुछ आगे यह निवासकाल स्वतः पहुँच जाता है। मुकुन्ददेवजी ने लिखा है कि प्रथम छै मास में दण्डी जी को योग्य छात्र नहीं मिले। हमें ऐसा लगता है कि उनको अधिकारी छात्र मिलना इसी स्थान पर प्रारम्भ हो गया था। अतः इस गृह का निवास अधिक ही प्रतीत होता है। पुरानी रूढ़ियों के अनुसार कार्तिक शुक्ला ११ से पूर्व गृह-परिवर्तन सम्भव नहीं। दण्डीजी यद्यपि समग्र रूढ़ियों के अन्धभक्त न थे, अनेकों को सर्वथा न मानते थे, अतः हो सकता है कि इस रूढ़ि से स्वयं को बद्ध न भी मानते हों, पर इस विषय में हमें कोई निश्चित ज्ञान नहीं है। पर अन्य बातों के विचार से भी हमें तो वे कार्तिकान्त तक तो इसी में रहे प्रतीत होते हैं।

---

† पं० मुकुन्ददेवजी ने नाम परम सुख लिखा है।

इस गृह को छोड़कर श्री दण्डीजी ने कुछ समय गत-श्रम-नारायण के मन्दिर को सुशोभित किया था। यह मन्दिर अवागढ़-नरेश ने बनवाया था। प्राणनाथ आचार्य एक बड़े विद्वान् हुए हैं। उन्होंने सिद्धान्त कौमुदी की प्राणनाथी नाम सुन्दर टीका रची थी। वे अवागढ़-नरेश तथा कुछ अन्य राजाओं के गुरु थे। अवागढ़-नरेश ने यह मन्दिर बनवाकर प्राणनाथ जी को भेंट किया था। उन्हीं के वंशधर प्रसादीलालजी आचार्य इस काल (सं० १९०२) में इस मन्दिर के व्यवस्थापक थे। उनका अष्टादशवर्षीय पुत्र वासुदेव छोटी अवस्था में ही अच्छा पण्डित हो गया था। उसके विद्योत्कर्ष को कामना करते हुये प्रसादीलालजी दण्डीजी का महान् आदर-सत्कार करते थे। सम्भवतः उन्हीं के विनीत अनुरोध के वशीभूत हो दण्डीजी उपर्युक्त मन्दिर में चले गए। दण्डीजी के अनुग्रह से वासुदेवाचार्य शीघ्र ही महान् पण्डित हो गया। उसने वृद्ध-पण्डित-जन-दुर्लभ प्रतिष्ठा पाई। पर हुआ यह अल्पायु। ऐसे ही व्यतिकरों से व्यथित हो भर्तृहरि ने कहा है।

सृजति तावदशेष-गुणाऽऽकरं
पुरुष-रत्नमलं करणं भुवः।
तदपि तत्क्षणभङ्गि करोति चे-
दहह कष्टमपण्डितता विधेः॥

१६. एक भक्त-नयनसुख जड़िया

(सं० १९०२—)

मथुरा में एक स्वर्णकार श्री नयनसुखजी जड़िया गली दशावतार में रहते थे। गली के सम्मुख ही उनकी दुकान थी। वे विशेष पढ़े-लिखे न थे, पर जवाहरात की परख में बड़े निपुण थे, और मथुरा के सर्वश्रेष्ठ जौहरी थे। श्री जड़ियाजी ने उत्तम स्वभाव पाया था। वे साधु तथा विद्वज्जन सेवी थे, अतः श्री सेवा में भी उपस्थित होने लगे। दण्डीजी विद्या-प्रसंग के अतिरिक्त अन्य वार्तालाप से अत्यन्त बचते थे, तथापि जड़ियाजी के सौभाग्य से उन पर दयालु हो गये थे।

अकिंचन विद्या-मल्ल दण्डीजी बहुज्ञ थे और उस उत्कृष्ट जौहरी से भी रत्नों की परीक्षा अधिक जानते थे। मिलन के दूसरे दिन ही उन्हें नीलम आदि कई रत्नों की परीक्षा का उपदेश दिया। मोतियों के अनेक भेद बताए तथा धातुओं के सम्बन्ध में अनेक नई-नई बातें बताईं। जड़ियाजी दण्डीजी के इतने भक्त बन गए थे, कि दिन में दो तीन बार दण्डीजी के पास हो जाते थे। कुटुम्बि-जन असन्तोष प्रकट करने लगे तो इन्होंने घर जाना छोड़ दिया। शनैः-शनैः उनका सर्व कुटुम्ब दण्डीजी का भक्त बन गया।

जड़ियाजी शिक्षित न थे। हाँ, विद्वत्सेवी होने से बहुज्ञ तथा आलाप-निपुण हो गए थे। थे वे बड़े मेधावी। अतः दण्डीजी की पाठशाला में अन्य छात्रों का पाठ सुनते-सुनते उन्हें व्याकरण का अच्छा ज्ञान हो गया था। दण्डीजी के सत्संग से उच्चारण भी विशुद्ध हो गया था, और वे भले प्रकार संस्कृत बोलने लगे थे।

जड़ियाजी मथुरा के सर्वश्रेष्ठ रत्नपारखी थे, अतः वे सब सेठों-साहूकारों तथा समागत राजाओं—महाराजाओं द्वारा निमन्त्रित होते थे। वे दण्डीजी के वैदुष्यादि सर्व गुणों के इतने भक्त थे कि जहाँ भी जाते थे, विरजानन्द गुण-गरिम-कीर्तन यथाऽवसर अवश्य करते थे।

फलतः उनमें से कुछ लोग दण्डीजी के दर्शनार्थ उपस्थित होते थे। कुछ लोग जो न आ पाते थे, वे श्रद्धानुसार कुछ भेंट भेजकर ही संतोष-लाभ करते थे।

जबसे नयनसुख विरजानन्दजी के सम्पर्क में आए थे, तब से उनके ज्ञान के साथ ही उनका धनागम भी वृद्धिपरायण था; अतः वे दण्डीजी के इतने भक्त हो गए थे कि उनसे कोई कुछ भी पूछे, वे सबको दण्डीजी का नाम बता देते थे।

एक बार सेट गुरुसहाय मलजी ने दण्डीजी के पाण्डित्य के विषय में पूछा तो श्री जड़ियाजी ने कहा—"केवल दण्डीजी पण्डितों के शिरोरत्न हैं।" श्री सेठजी एक बार अपने मुनीम सहित दण्डीजी की सेवा में पहुँचे। दण्डीजी पढ़ा रहे थे। मुनीमजी ने कहा—"सेठजी ५ रु० आपके चरणों में भेंट करते हैं।" अनन्तर सेठजी ने निवेदन किया—"महाराज आपके कितने विद्यार्थी हैं, जिनके भोजनादि का प्रबन्ध किया जाय।" दण्डीजी बड़े स्वाभिमानी थे। वे अपने छात्रों को भी भिक्षुक न समझते थे। उन्होंने उत्तर दिया—"मेरे पास ऐसा कोई विद्यार्थी नहीं, जिसका आपको प्रबन्ध करना पड़े।" सेठजी मथुरा में बाहर से समागत सम्पूर्ण छात्रों के अन्न-वस्त्र की व्यवस्था श्रद्धापूर्वक करते थे। उनका अहंकार इस पाठशाला को अपने से अनुपकृत देखना सदा न कर सका। वे कुछ वितण्डा करने लगे। उग्र-प्रकृति दण्डीजी पाठ-विक्षेप से अतीव कुपित हुए। अतः बोले—"आपकी विद्यमानता से विद्यार्थियों के पाठ में बाधा पड़ती है।" यह सुन सेठजी चले गए।

सेठजी तो चले गए, पर यह प्रसंग दण्डीजी के लिये यत्किंचित् उद्वेगजनक ही रहा। दण्डीजी जान गए कि इसका मूल नयनसुख जड़िया है। इसकी प्रतिक्रिया पाठक आगे देखेंगे।

---

१७. शाला-परिवर्तन और किराए की कहानी

(सं० १९०३-१९२५)

दण्डीजी गत-श्रम-नारायण के मन्दिर में कितने समय रहे, यह विदित नहीं है। यह समय सम्भवतः विशेष बड़ा न था, तथापि हमारा अनुमान है कि संवत् १९०२ उस मन्दिर में ही समाप्त हो गया होगा।

एक दिन मथुरा के एक रईस लाला केदारनाथजी खत्री ने जड़ियाजी से पूछा—"मथुरा में शतरञ्ज का सर्वश्रेष्ठ खिलाड़ी कौन है?" जड़िया ने बड़े विश्वासपूर्वक सहज-स्वभाव से उत्तर दिया—"श्री स्वा० विरजानन्दजी दण्डी सर्व विद्याओं में सर्वश्रेष्ठ हैं।" बस केदारनाथजी जड़ियाजी को साथ लेकर दण्डीजी की सेवा में जा पहुँचे।

विद्या-मात्र-समर्पित समय दण्डीजी शतरञ्ज का प्रस्ताव जान, जड़ियाजी पर अत्यन्त कुपित हुए, और बोले—"बस चले जाओ। अनेक बार समझाया, पर तुम दुष्टता किये बिना नहीं रहते।"

नयनसुखजी अति खिन्न होकर स्व-जिह्वा-छेदन को तत्पर हो गए। उनको अत्यन्त विषण्ण देखकर द्रवित हुए दण्डीजी कहने लगे—"नयनसुखजी! तुम इधर-उधर मेरी चर्चा कर देते हो। आज सेठ गुरुसहाय मल ने पाठ में विक्षेप डाला था। तुम किसी से मेरी चर्चा न किया करो, जो आकर मेरा समय नष्ट करे। अपने साथी से कह दो—"यहाँ शतरञ्ज नहीं है।"

केदारनाथजी ने कहा—"शतरञ्ज मैं लाता हूं।"

अब दण्डीजी को मौन होना पड़ा।

केदारनाथजी शीघ्र ही शतरञ्ज ले आए। दण्डीजी ने आठ प्रकार की शतरञ्जों की चर्चा की और शतरञ्ज का वर्णन किया। इतने में केदारनाथजी ने उभय पक्ष के मुहरे जमाकर चलने की प्रार्थना की।

थोड़ा-सा "प्रथमं भवन्त एव"। 'पहले आप ही चलें' होकर खेल प्रारम्भ हुआ। दण्डीजी के आदेशानुसार जड़ियाजी उनके मोहरे को चल देते थे और केदारनाथजी की चाल उन्हें बता देते थे। खेल समाप्ति पर था, तब श्री दण्डीजी ने चली हुई सम्पूर्ण चालों का विवरण देकर कहा—अब तक तुम्हारी व मेरी १७१ चालें हुईं। अब मैं १७२ वीं चाल चलता हूँ।

दण्डीजी ने घोड़े की किश्त दिलाई। लालाजी बाईं तरफ हाथी के पास बादशाह को हटा ले गए। अब दण्डीजी ने कहा—"किश्त ऊँट की भी लग सकती है, पर वजीर की शय दो और मात भी कह दो।"

नयनसुख ने वजीर को छू भी न पाया था, पर केदारनाथ अपने बादशाह की अवस्था विचार-विस्मित हो बोल उठे—"क्या खूब यह करामाती मात।"

बस इसके पश्चात् दण्डीजी उनके साथ शतरंज न खेले, पर लाला केदारनाथ सेवा में सदा उपस्थित होते रहते थे और धीरे-धीरे प्रबल अनुनय-विनय से दण्डीजी को अपने गृह में ले गए। यह गृह गत-श्रम-नारायण के मन्दिर से लगभग १६-१७ दुकानें होली दरवाजे की ओर अवस्थित था।

यह तो हुई शाला-परिवर्तन की बात, अब किराए की रोचक कहानी भी जान लीजिये।

इस गृह में आये तीन सप्ताह हो चुके थे चौथा चल रहा था। एक दिन लाला केदारनाथ बिना आज्ञा लिए प्रविष्ट हो गए।

दण्डीजी बोले—'कौन है ?'

लालाजी ने सोचा कि दण्डीजी को यह शङ्का है कि कोई बेगाना पुरुष या चोर-उचक्का तो नहीं, सो एकाएक बोल उठे—"मालिक मकान।"

इस दर्प-पूर्ण वचन को सुनकर शब्द-शक्ति-निपुण, उग्र स्वभाव, असहनशील दण्डीजी बोले—"खबरदार, मालिक मकान तो मैं हूं। तू इसकी कमाई खाता है। मानिन्द भटियारे के है।"

दण्डीजी तो बड़े-बड़े राजाओं, पण्डितों व संन्यासियों के पूज्य थे ही। लालाजी की भी लौकिक स्थिति अच्छी वैभवपूर्ण उस काल के अंगरेज डिप्टी कलक्टर जैसी तो थी ही, तथापि वे दण्डीजी के कोप से घबरा गए और कहा—"आप इस मकान के ही नहीं, अपितु ५०,०००) की मिल्कियत के मालिक हैं।" उनका अभिप्राय था कि 'मेरे सम्पूर्ण गृहों के आप स्वामी हैं।'

उपर्युक्त विनम्र वचन कहकर लालाजी चले गए और नयनसुखजी से अपना अपराध क्षमा करा देने की प्रार्थना की। लालाजी की दण्डीजी में गुरुजनयोग्य अधिकतम भक्ति थी। वे दण्डीजी के क्षोभ से इतने अनुतप्त थे कि उस दिन भोजन न कर सके।

दूसरे दिवस प्रभात में ही लालाजी नयनसुखजी के पास पहुँचे और पूछा कि "दण्डीजी ने क्या कहा ?"

जड़िया—"बहुत कुछ कहा।"

लाला घबराकर बोले—"तो क्या कहा ?"

जड़िया—"यही कहा था कि लाला बावला है।"

लालाजी को यह जानकर अपार परितोष हुआ कि 'दण्डीजी हृदय से अप्रसन्न नहीं हैं। मुझे पागल मात्र समझते हैं।'

नयनसुख ने दण्डीजी के पास चलने को कहा, पर वे उत्साह धारण न कर सके। कहने लगे—"राजा जोगी अगिन जल, थोड़ी राखैं प्रीत। अब बेकाम न जाया करूँगा।"

तीन-चार दिन और व्यतीत हो गए। अब श्री सरस्वती जी को इस गृह में आए २९ दिन हो गए थे। मास समाप्ति में एक दिन पूर्व ही उन्होंने एक छात्र के हस्ते २) लालाजी के पास भेज दिए। लालाजी न लेते थे, बहुत निषेध किया, पर श्री दण्डीजी का भेजा छात्र

बिना आदेश-पालन किये न लौट सकता था। वह आग्रहपूर्वक दे आया। लालाजी उन रुपयों को लेकर, उस छात्र से भी पूर्व, श्री दण्डीजी की सेवा में जा पहुँचे और प्रणाम करके निवेदन किया—

"श्री महाराज, ये दो रुपये तावेदार के पास क्यों भेजे गए हैं ?"

"किराए के।"

"क्या मालिक मकाँ किराया दिया करते हैं ?"

"अवश्य। यदि किराया न दें तो मालिक मकाँ कैसे होवें।"

"अब मेरे वास्ते क्या इर्शाद* होता है ?"

"रुपये ले लो"

"मैं इसमें अपनी तौहीन† समझता हूँ।"

"मैं न देने में अपनी तौहीन समझता हूँ।"

"इस हुज्जत‡ की इब्तिदा❁ क्या है ?"

"मालिक मकाँ।"

"अच्छा अब इस मकान की रजिस्ट्री शुदा कागज करा दूँ ताकि हर हालत में इस मकाँ को रहन व बय☙ करने का आपको अख्त्यार रहे।"

"इसमें मैं अपनी किराया न लेने से भी ज्यादा तौहीन समझता हूँ। तत्त्व यह है कि यदि मुझे इस मकान में रखना चाहते हो तो २) ले लो नहीं तो कल मुझे इस मकान में न देख सकोगे।"

आदर्शभक्त लाला केदारनाथ को लाख अनिच्छा होने पर भी यह आज्ञा शिरोधार्य करनी ही पड़ी।

यह गृह श्री महाराज को इतना अनुकूल रहा कि निर्वाणपर्यन्त इसी में ही रहे। दण्डीजी के निर्वाणोपरान्त भी उनके प्रथम माथुर

---

* अर्थात् 'आज्ञा'।
† अपमान।
‡ विवाद।
❁ मूल-कारण।
☙ गिरवीं रखना तथा विक्रय।

शिष्य श्री युगलकिशोरजी गौड ने चिरकाल पर्यन्त इसी गृह में शब्दानुशासन (अष्टाध्यायी) तथा महाभाष्य का अध्यापन किया।

उपर्युक्त गृह मुनिवर विरजानन्द की २२ वर्षपर्यन्त तपोभूमि रहा है। साथ ही लगभग ढाई वर्ष मुमुक्षुवर्य योगि-श्रेष्ठ दयानन्द की भी साधना-भूमि रहा है। पिछले दिनों में यह गृह 'सरीनों के घर' नाम से प्रसिद्ध रहा है। विरजानन्द तथा दयानन्द के इतिहास से परिचित आर्य-जनता सदा ही इस तीर्थ-भूमि को प्राप्त करने के लिये लालायित रही है।

सं० १९८१ में दयानन्द-जन्म-शताब्दी मथुरा में मनाई गई। तब आर्य-जनता की यह लालसा अधिक तीव्र हो गई। घर के इस समय के स्वामी समय को पहिचानते थे और स्वार्थ-प्रवृत्ति ने उनके सत्त्वगुण को दबा दिया था। कहने लगे—"तीन लाख ऋषि भक्त मेले में एकत्र हुए हैं, सब एक-एक रुपया गुरु-भक्ति से अर्पण करें।" लोभ की कोई सीमा नहीं होती। तीन लाख रुपये की बोली गृहस्वामी ने रखी। अतः बात खटाई में पड़ गई।

धीरे-धीरे प्रयत्न चलता ही रहा। उत्तर प्रदेश की प्रतिनिधि सभा ने यह कार्य मथुरा के श्री कर्णसिंहजी छोंकर को सौंपा। इन्होंने पत्रद्वारा इस गृह के इतिहास के विषय में मुझसे जानकारी चाही। पत्र मुझे सं० २००५ चैत्र व० ७ सोम २१—३—१९४९ को मिला। मैं उसी रात कोटे से चल अगले दिन भौमवार प्रातः मथुरा पहुँचा और श्री छोंकर महोदय से जो कुछ जानता था, निवेदन कर दिया।

बड़े हर्ष का विषय है कि आर्यसमाज के महान् प्रयत्नों से यह तीर्थस्थान उत्तर प्रदेश की आर्य-प्रतिनिधि-सभा के हस्तगत हो चुका है, और मुनिवर विरजानन्द के निर्वाण के ९१ वर्ष पश्चात् और आर्ष-युग-प्रवृत्ति के पूरे १०० वर्ष पश्चात् (सं० २०१६ दीपावली पर) इसमें उत्सव मनाया जा रहा है।

१८ दण्डीजी का माथुर शिष्यमण्डल

(सं० १९०२–१९२५)

तीर्थस्थान साम्प्रदायिकता के—धर्मान्धता के—गढ़ होते हैं। हम ऊपर लिख आए हैं कि इस घोर धर्मान्धता के गढ़ में विरजानन्द के परिष्कृत विचारों, स्वतन्त्र-प्रज्ञता ने अतीव विरोधी, अग्निमय वातावरण उत्पन्न कर दिया था और छः मास तक उन्हें अधिकारी छात्र न मिले।

विरोधियों के अनवरत विरोध के रहते हुए भी, विरजानन्द के वैदुष्य, उच्च चरित्र, निस्पृहता, आदि गुण-गण की कीर्ति धीरे २ मथुरा, वृन्दावन और सम्पूर्ण व्रजभूमि तथा अन्यत्र भी दूर दूर छाने लगी थी। बाहर से आए हुए विद्वज्जन अपने घरों पर जाकर मित्र मण्डल में इनकी गुणावली का सहर्ष उद्घोष करते थे।

योग्य छात्रों का मिलना कैसे आरम्भ हुआ, यह भी हम ऊपर बता चुके हैं। माथुर विबुध-शिरोमणियों ने अपने योग्यतम छात्रों को कठिनतम प्रश्न सिखाकर इनके वैदुष्य-तल के परिज्ञानार्थ भेजा। इस प्रकार जो छात्र भेजे गए, वे इनके वैदुष्य-चुम्बक से चमत्कृत हो, इन्हीं के छात्र बन गए। पं० युगलकिशोर इनके प्रथम योग्य छात्र थे जो संवत् १९०२ (मथुरागमन वर्ष) से सं० १९२५ (निर्वाण-काल) तक इनमें अध्ययन और सेवा-परायण रहे, और पश्चात् अपने जीवनपर्यन्त उन्होंने विरजानन्दजी की गद्दी पर बैठकर आर्ष-ग्रन्थों का अध्यापन किया।

धीरे-धीरे पाँसा ऐसा पलटा कि दण्डीजी की विद्वत्ता से आकृष्ट हो मथुरा के प्रायः सारे ही उच्च अध्यापक उनसे अध्ययन-परायण हो गये थे। चौबे गङ्गादत्त तथा रङ्गदत्त अच्छे व्याकरण-विशारद थे। उन्होंने काशी में यथेच्छ अध्ययन किया था। तदनन्तर वे मथुरा लौटकर

अध्यापन-निरत हो गए थे। ये भी दण्डीजी के वैदग्ध्य, संस्कृत-वैदुष्य से समाकृष्ट हो उनके पास पढ़ने लगे थे। इसी प्रकार मथुरा के अधिकांश उत्कृष्ट पण्डित दण्डीजी के शिष्य बन गए थे।

मथुरा के अध्यापक † जो दण्डीजी के शिष्य बने, ये हैं—देवीदत्त, केशवदेव (७० वर्ष), रामरत्न, केशवदेव (३० वर्ष), दीनबन्धु, शिवलाल, एक पन्थ (नाम विस्मृत, वैराग्यपुरा के), हरिकृष्ण, बलदेव, मदनजी, उदयप्रकाश, दामोदर, गणेशजी, शुकदेवजी, झबोलजी, मुरमुरिया, मदनदत्त फलाहारी, भट्ट रमेश, गङ्गादत्त, रङ्गदत्त, नन्दनजी, वासुदेव शास्त्री, शीलचन्द, भगवान, अमरनाथ औदीच्य, रघुनाथ घुले, मुकुन्दराम आदि।

मथुरा के कुछ अध्यापक विरजानन्दजी के शिष्य नहीं बने। ये हैं—

१. पं० मनसाराम। ये विरजानन्द की निन्दा कभी न करते थे। ये ९० वर्ष के थे।

२. पं० लक्ष्मीनारायण। ६० वर्ष। भागवत के उत्कृष्ट पण्डित थे। सुतरां दण्डीजी के द्वेषी थे।

३. पं० सोहनलाल गोस्वामी सारस्वत। भागवत के अध्यापक थे।

४. पं० वासुदेव धारा स्वामी। ७० वर्ष। ये दण्डीजी के परम प्रतिद्वन्द्वी थे।

५. पं० बलदेव मिश्र। ज्योतिष के सिद्धान्त-ग्रन्थ पढ़ाते थे।

इन पाँच को छोड़ मथुरा के शेष सारे अध्यापक धीरे-धीरे दण्डीजी के शिष्य बन गए थे।

युगलकिशोरजी की चर्चा ऊपर आई ही है। कुछ अन्य शिष्यों के नाम—जगन्नाथजी चौबे, दामोदरदत्तजी सनाढ्य, चिरञ्जीविलाल,

---

† यह नामावली पं० मुकुन्ददेव रचित दण्डीजी की जीवनी में से संगृहीत है।

गरुड़ध्वज, रामचन्द्र जी सनाढ्य (गोकुल), पं० ब्रजकिशोरजी (गिडोये ग्राम), पं० गोपाल दत्त (कासगंज), श्यामसुन्दर, पुरुषोत्तम, वनमाली, सोहनलाल (ये भागवतपाठी से भिन्न हैं), पांडे श्यामलाल, गोपीनाथ दक्षिणी, पुण्डरीक, सोमनाथ चौबे, गयाप्रसाद, पं० चेतूलाल, पं० मोहनलाल, विष्णुलाल पण्ड्या।

सोरों व अलवर के शिष्यों के नाम इनमें संग्रह नहीं किये गए।

श्री दण्डीजी के वैदुष्य की छाप विदुष्मती काशी पर इतनी पड़ी कि वहाँ विद्या समाप्त कर कुछ पण्डित दण्डीजी से पढ़ने आए। सुना गया है कि कोई-कोई बुधवर्य कुछ दिन मथुरा वास कर जाते थे और इतने से ही अपने को दण्डीजी का शिष्य उद्घोषित कर अपने को गर्वित अनुभव करते थे।

महर्षि दयानन्द तो, विरजानन्दजी के प्रसिद्धतम शिष्य थे ही। वे शिष्य न बने होते, तो विरजानन्द का कीर्ति-दीपक उनके निर्वाण के ५० वर्ष के अन्दर ही मथुरा में भी निर्वाण हो जाता। शेष संसार में तो उन्हें कौन जानता।

---

१९. शब्दानुशासन की उपलब्धि

आर्यसमाज का तीसरा नियम है कि "वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है।"

मानव-धर्मशास्त्र में भी आया है—"सर्वज्ञानमयो हि सः" मनु० २.७.।

सारे ही ऋषियों का यही सिद्धान्त रहा है। विद्वानों ने व्याकरण का मूल भी वेदों में खोजा है। व्याकरण-शास्त्र का विकास होने पर ही

वेद संहिताओं के पद-पाठ बने। वाल्मीकीय रामायण साक्षी है कि उस काल में व्याकरण का व्यवस्थित अध्ययन होता था।† यास्क मुनि महाभारत युद्ध के समकालिक थे। उनके निरुक्त में अनेक वैयाकरणों का उल्लेख मिलता है। वेद-षडङ्गों में व्याकरण प्रधान है। ब्रह्मा, बृहस्पति, इन्द्र आदि प्रारम्भिक व्याकरण-प्रवक्ता हुए हैं। आपिशाली, काश्यप, गार्ग्य, गालव, चाक्रवर्मण, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य, सेनक और स्फोटायन पाणिनि से पुरातन वैयाकरण हुए हैं। ऋक्प्रातिशाख्य तो पाणिनि से निश्चित प्राचीन है। पाणिनि के पश्चात् भी अनेक व्याकरण-प्रवक्ता हुए हैं। पर सारे उपलब्ध व्याकरणों में मूर्धन्य, पाणिनीय व्याकरण है। इसकी श्रेष्ठता के ही कारण इससे प्राचीन व्याकरण लुप्त हो गए। पाणिनि मुनि प्रायः भारत युद्ध के ३०० वर्षों के अभ्यन्तर हुए हैं।* इन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम 'शब्दानुशासन' रक्खा है। यही ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' 'पाणिनीयाष्टक' तथा 'वृत्तिसूत्र' भी कहाता रहा है। पाणिनीय व्याकरण में कहीं-कहीं कोई बात कहने से छूट गई थी तो उस त्रुटि की पूर्ति कात्यायन, क्रोष्टा, भारद्वाज, वाडव, सुनाग आदि ने वार्तिक बनाकर की है। इन वार्तिककारों के काल विभिन्न हैं। उनके ठीक जानने के साधन अभी उपहृत नहीं हुए हैं।

इस पाणिनीय व्याकरण (सूत्र व वार्तिकों) पर प्राञ्जल महती व्याख्या महामुनि पतञ्जलि ने लिखी है। उनका ग्रन्थ 'महाभाष्य' नाम से विख्यात है। ये लगभग १५०० वर्ष विक्रम पूर्व हुए प्रतीत होते हैं। पाणिनीय व्याकरण का मर्म, महाभाष्य से ही जाना जा सकता है। महाभाष्य सकल संस्कृत वाङ्मय में अपने ढंग का निराला ग्रन्थ है।

---

† देखो किष्किन्धा काण्ड ३. २९.

* देखो श्री युधिष्ठिर मीमांसक विरचित 'व्याकरण का इतिहास' प्रथम भाग।

पाणिनि के काल से लगभग १६ वीं विक्रम शती तक पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन अष्टाध्यायी महाभाष्य से होता रहा। सारे प्रसिद्ध संस्कृत कवियों व रचयिताओं ने इसी क्रम से इस ग्रन्थ को पढ़ा था।

साधनिका में सहायता के लिये प्रक्रिया ग्रन्थों का निर्माण हुआ। प्रक्रिया के अनेक ग्रन्थ रचे गये। वे आरम्भ में केवल साधनिका में सहायक थे। व्याकरण का अध्ययन प्राचीन शैली से ही हो रहा था। परन्तु भट्टोजि दीक्षित ने प्राचीन परिपाटी का लोप करके, प्रक्रिया-परिपाटी प्रवृत्त कर दी। यह महान् अनर्थ हो गया और इसने व्याकरण को दुरूह से दुरूहतर बना दिया। लगभग चार शतियों से चले हुए इस विभ्राट् का परिहार स्वा० विरजानन्द सरस्वती ने किया।

व्याकरणाध्ययन-शैली

शब्दशास्त्र का विषय अतीव विस्तृत है। वेदों से आरम्भ करके यावत् शिष्ट ग्रन्थ इसका विषय है। इसमें वर्ण-विकार के उत्सर्ग रूप सिद्धान्त ही दुर्ज्ञेय हैं, अपवादों की तो कथा ही क्या है। ऐसे महान् विषय को अनुपम लोकोपकारक उपज्ञाऽऽगार, प्रतिभा के धनी, महामहिम-मण्डित श्री पाणिनि मुनि ने साढ़े नौ सौ अनुष्टुपों में बाँध दिया है। पाणिनीयाष्टक क्या है, गागर में सागर है। इतना विलक्षण संक्षेप कोई जादू के बल से नहीं हो गया है। प्रत्याहार, अनुबन्ध, परिभाषाएँ तथा अनुवृत्ति आदि की पद्धतियों के साहाय्य से ही यह असम्भवनीय चमत्कार सम्भव हो सका है। वैयाकरण जानते हैं कि सूत्रों के पौर्वापर्य का भी विशेष महत्त्व है। यदि आचार्य अनुवृत्ति, पौर्वापर्य, षष्ठ अध्याय की आभीय असिद्धताओं एवं अष्टमाध्याय की त्रैपादिक असिद्धताओं की विलक्षण व्यवस्थाएँ न बाँध पाते तो यह ग्रन्थ सम्भवतः ५००० श्लोकों से न्यून कदापि न होता। अनुवृत्तियों का माहात्म्य विस्मयजनक है। एक उदाहरण ही यहाँ पर्याप्त होगा। आचार्य का एक

सूत्र है—'आद्गुणः' (६. १. ८४) इसमें केवल तीन अक्षर (Syllables) हैं। यदि अनुवृत्ति की परिपाटी न होती तो आचार्य को 'आदचि पूर्वपरयोरेकः गुणः संहितायाम्, अयं गुणः पूर्वादिवत् परान्तवच्च'—इस रूप में २९ अक्षरों में यह नियम लिखना पड़ता। इस अनुवृत्ति देवी ही की महिमा है कि कण्ठ करने का विषय अतीव संक्षित हो गया। अन्यथा तीन अक्षरों के स्थान में २९ अक्षर घोटने पड़ते। यदि संस्कृत के व्याकरण को इस युग में शेष रखना है तो श्री पाणिनि स्थापित शैली ही से सम्भव है। कौमुदी तो मूल-ग्रन्थ सहायभूत एक नोट के सदृश है। जो लोग सूत्र-क्रम का अनादर करके कौमुदी-क्रम में श्रद्धा रखते हैं वे अनर्घ मूल-ग्रन्थ को लुप्त करके सहायभूत नोट मात्र से अध्ययन अध्यापन के प्रचारकों के सर्वथा समान हैं, भिन्न नहीं।

शब्दानुशासन (अष्टाध्यायी) विषयक श्रद्धा विरजानन्दजी को स्वगुरुवर्य स्वा० पूर्णानन्दजी से दायभाग में प्राप्त हुई थी। काशी में उनको अष्टाध्यायी के कोई-कोई प्रकरण कण्ठस्थ भी थे। पता नहीं इन प्रकरणों को स्वामी पूर्णानन्दजी ने सिखाया था अथवा महाभाष्य की खोज करते हुए उन्हें अष्टाध्यायी के कुछ पृष्ठ मिल गये थे अथवा महाभाष्य की सहायता से उन्होंने किसी-किसी स्थल का सूत्रपाठ व्यवस्थित कर दिया था। मथुरा में सूत्र-क्रम की श्रेष्ठता की चर्चा वे प्रायः छात्रों से किया करते थे।

मथुरा-निवास-काल में मदनमोहनजी के मन्दिर के अध्यक्ष गोस्वामी पुरुषोत्तमलाल के पुत्र रमणलाल को कुछ काल तक दण्डीजी शिविका में बैठकर पढ़ाने जाया करते थे। एक दिन जाते हुए मार्ग में एक दशग्रन्थी दाक्षिणात्य ऋग्वेदी ब्राह्मण को अष्टाध्यायी सूत्रपाठ करते सुना। उन्होंने ४—५ दिन उस ब्राह्मण को अपने स्थान पर बुलाकर सूत्र-पाठ का पारायण सुना। उस सूत्रपाठ में यत्र-तत्र अशुद्धियाँ थीं। दण्डीजी ने पुस्तक

मँगाकर सुनी । वह भी अशुद्ध थी । वह ब्राह्मण दण्डीजी के बताये पाठों को पाठान्तर कहता था । पर वस्तुतः उस ब्राह्मण के अभ्यस्त पाठ अपपाठ थे । दण्डीजी इसके अनन्तर भी अनेक वर्ष नवीन ग्रन्थ पढाते रहे। हाँ ! प्राचीन ग्रन्थों का गौरव छात्रों के हृदयों पर अङ्कित करते रहते थे।

इस सूत्रपाठ की प्राप्ति ने अपना पूर्ण फल सं० १९१६ में दिखाया, जैसा कि हम आगे देखेंगे ।

इस उपलब्धि का काल हमें ज्ञात नहीं हो सका । कोई मथुरावासी सज्जन रमणलालजी के परिव्राजकाचार्यजी से अध्यापन के काल को जान सकें, तो बहुत अच्छा है ।

चतुर्थ उल्लास—सुन्दर-काण्ड

(मथुरा-निवास का आर्षयुग)

२०. कृष्णशास्त्री और सेठ राधाकृष्ण

(सं० १९१६)

मथुरा में अतुल सम्पत्तिशाली सेठ मनिराम थे। ये जयपुर के निवासी ओसवाल जैन थे। जयपुर में इनकी साधारण स्थिति थी। घटना-क्रम से वे ग्वालियर के गोकुलचन्द पारख (ये दौलतराव सिन्धिया के कृपापात्र थे) के कृपाभाजन बनकर ग्वालियर गए और राज्य के अनेक भागों की राजस्व उगाही के ठेकेदार बनकर इन्होंने लाखों रुपया उपार्जन किया और सेठ बन गए । फिर ये मथुरा में बस गए ।

सेठ मनिराम के तीन पुत्र थे, १. लक्ष्मीचन्द्र, २. राधाकृष्ण, ३. गोविन्ददास । इनमें से ज्येष्ठ तो जैन रहे । शेष दोनों भ्राता वैष्णव बन गए । सेठ राधाकृष्णजी को सं० १८९० (खी० १८३३) में रङ्गाचार्य ने समाश्रित (वैष्णव सम्प्रदाय में दीक्षित) किया था ।

रङ्गाचार्य का जन्म सं० १८६६ में कार्तिक कृष्णा ७ † को निरुब्-ङन्टे (काञ्ची मण्डल, मद्रास प्रदेश) में हुआ था। ये उत्तर भारत में आकर गोवर्धन (व्रजभूमि) में श्रीनिवासाचार्य के रसोइया बने। उन्हीं से अध्ययन भी करते थे। सं० १८९१ वैशाख कृ० ९ शुक्रवार (२–५–१८३४) को श्रीनिवासाचार्य ने रङ्गाचार्य को अपना उत्तराधिकारी बनाया। सं० १८९३ ज्येष्ठ कृ० ८ रविवार (८–५–१८३६) को श्रीनिवासाचार्य की मृत्यु होने पर रङ्गाचार्य उस गद्दी के स्वामी हुए।

वैष्णव धर्म के प्रभूत श्रद्धा से प्रेरित होकर सेठ राधाकृष्ण तथा गोविन्ददास ने वृन्दावन में लक्ष्मीनारायण का मन्दिर बनवाकर अपने दीक्षा-गुरु रङ्गाचार्य को भेंट किया। पर इस छोटे मन्दिर के समर्पण से अपरितुष्ट रह, विपुल धन-व्यय से द्वितीय विशाल सुवर्णमय मन्दिर जो सेठजी का मन्दिर कहाता है, गुरुदेव के लिये बनवाया। इसी को रङ्गजी का मन्दिर अथवा सोने का मन्दिर भी कहते हैं।

इस मन्दिर का शिलारोपण सं० १९०१ (खी० १८४४) में हुआ था और यह सं० १९०८ में (खी० १८५१) में बन गया था। इसके निर्माण में ३५ लाख मुद्रा व्यय हुई थीं। इसका समर्पण-पत्र सं० १९१३ चैत्र बदि ७ बुधवार (१८–३–१८५७) को लिखा गया था।

रङ्गाचारी सुप्रसिद्ध विद्वान हुए हैं। इन्होंने श्रीनिवासाचार्य के अतिरिक्त बंगाल के सुप्रसिद्ध नैयायिक विद्या वाचस्पति मिश्र से भी अध्ययन किया था। इन दोनों के अतिरिक्त पं० श्री कृष्णशास्त्री से व्याकरण तथा न्याय पढ़ा था।

---

† यह दक्षिण भारत की तिथि है, अतः बुधवार २९–११–१८०९ समझनी चाहिये। यदि यह तिथि उत्तर भारतीय व्यवहार के अनुसार दी गई हो तो सोमवार ३०–१०–१८०९ अभिप्रेत है। इन तिथियों पर समय मिलने पर पुनः कभी अधिक विचार करेंगे।

ये कृष्णशास्त्री कुरुक्षेत्र के समीप के निवासी थे। ये काशी तथा नवद्वीप में ४० वर्ष अध्ययन-परायण रहे थे। व्याकरण तथा न्याय के ये विख्यात पण्डित थे। इन्होंने बूँदी में हाडाधिपति (बूँदी के राजा, हाडा राजपूतों में प्रमुख माने जाते थे) द्वारा संयोजित सभा में विजयी होकर सवा लक्ष का पुरस्कार प्राप्त किया था। बूँदी से लौटते समय ये वृन्दावन में आए थे।

सं० १९१३ के अन्त तक रङ्गाचारी समृद्धि व सम्मान के चरम शिखर तक पहुँच चुके थे। इस उत्कर्ष की अवस्था में सं० १९१६ में पूज्य गुरु के दर्शन परमाह्लाद-जनक थे ही, और उन्होंने श्रद्धापूर्वक स्वगुरु का महान् सत्कार किया होगा। रङ्गाचारी ने अपने विद्या-गुरु को आग्रहपूर्वक कुछ समय ठहराए रक्खा था। सं० १९१६ की आषाढ़ी पूर्णिमा (१५-७-१८५९) वृन्दावन में महान् उत्सव का अवसर रही होगी। रङ्गाचारी ने तो विपुलोत्साहपूर्वक गुरुवर्य की समर्चना की ही होगी तथा सेठ राधाकृष्ण व गोविन्ददास ने भी स्वगुरु तथा प्रगुरु की अतिशय भावपूर्वक पूजा करके अपने जीवन को सफल माना होगा।

श्रावण मास के कृष्णपक्ष में तो वृन्दावन में विशेष जन-संमर्द रहता है और सम्भवतः इस पक्ष में कृष्णशास्त्री वृन्दावन में ही रहे होंगे। श्रावण शुक्ल ३ (हरित् तृतीया) से मथुरा में मेला आरम्भ होता है। इस तिथि से कृष्णाष्टमी तक मथुरा विशेष चहल-पहल का स्थान रहती है। बाहर से सहस्रों यात्री आते हैं। ऐसे अवसर पर अपने प्रगुरु को मथुरा की श्रावणिक शोभा दिखाने तथा उनकी सेवा करने की उमंग सेठ राधाकृष्ण के भावुक मन में उठनी स्वाभाविक थी। सेठजी की प्रार्थना को स्वीकृत कर कृष्णशास्त्री ने भगवान कृष्ण की नगरी को सुशोभित किया। कृष्णशास्त्री का यह मथुरावास दोनों ही पक्षों के लिये परम प्रीतिप्रद था, पर भवितव्यतावश दोनों ही के लिये एक चिन्ता का अवसर भी उपस्थित हो गया।

२१. विद्या-मल्लों की युयुत्सा* और सेठ राधाकृष्ण का कृष्ण-कर्म

(सं १९१६)

मथुरा में सायंकालिक यमुना-नीराजना (आरती) के समय, यमुना-तट पर विद्वानों तथा साधारण जनों का बड़ा संघट्ट होता है। उन दिनों अर्ध-शताधिक विद्वान अध्यापन-सत्र चलाते थे। सहस्राधिक छात्र अध्ययन-परायण थे। उस तदानीन्तन छोटी काशी (मथुरा) में, इस सायं-नीराजना के समय, विद्यारसिकों में शास्त्र-चर्चा भी चल जाती थी।

एक सायं को कुछ विद्वानों में "अजाद्युक्ति"† शब्द के समास पर शास्त्र-संगर छिड़ गया। मथुरा के अजेय विद्यामल्ल श्री विरजानन्द सरस्वती के दो उत्कृष्ट शिष्य व्याकरण-विशारद श्री गंगादत्त और रंगादत्त चौबे 'अजाद्युक्ति' पर परस्पर विचार कर रहे थे, और उन्होंने इसमें षष्ठी तत्पुरुष समास निश्चय किया था।

कृष्णशास्त्री मथुरा में सेठजी के अतिथि थे। उनसे सेठजी के आश्रित दो पण्डित लक्ष्मणशास्त्री तथा मुरमुरिया पण्ड्या‡ अध्ययन

---

* अर्थात् भिड़ने (शास्त्रार्थ) का शौक।

† वैयाकरण-सिद्धान्तकौमुदी में 'अजाद्यतष्टाप्' शब्दानुशासन ४।१।४ पर लिखा है 'अजाद्युक्तिर्ङीषोङीपश्च बाधनाय।' इस पङ्क्ति के 'अजाद्युक्ति' शब्द पर वाद था।

‡ पण्ड्या मुरमुरिया जी नागर ब्राह्मण थे। वे ज्योतिष के सिद्धान्त-ग्रन्थ तथा सिद्धान्त कौमुदी भी पढ़ाते थे।

करने लगे थे। इन दोनों ने आगे बढ़कर अजाद्युक्ति में सप्तमी तत्पुरुष उद्घाटित किया। दोनों पक्षों में मुहूर्त भर वाद-विवाद होता रहा। तदनन्तर वे अपने-अपने गुरुजनों के पास प्रस्थित हुए। चौबे गङ्गादत्त, रङ्गदत्त ने श्री प्रज्ञाचक्षुजी से "अजाद्युक्ति" के विषय में पूछा। उन्होंने कहा, षष्ठी तत्पुरुष है। दूसरे पक्ष के पण्डितों ने भी अपने अभिनव गुरुवर से विश्रान्त से आते ही "अजाद्युक्ति" समास पूछा। तो उन्होंने सप्तमी तत्पुरुष का समर्थन किया।

व्याकरण-दिवाकर श्री दण्डीजी के आदेश से चौबे गङ्गादत्त व रङ्गदत्त प्रतिवादियों (पण्ड्या मुरमुरिया तथा लक्ष्मण ज्योतिषी) को समझाने गये। वे दोनों उन दोनों को कृष्णशास्त्री के पास ले गए। ये बुधवर्य सप्तमी समास का ही आग्रह करते रहे और विद्याऽहंकार परिचालित हो, बुध-मूर्धन्य श्री विरजानन्दजी को शास्त्रार्थ के लिये आह्वान दे बैठे। विपश्चिद्वर्य प्रज्ञाचक्षुजी शास्त्र-समर के अर्थ सतत् संतृष्ण थे। उन्होंने कृष्णशास्त्री के उस आह्वान को अत्याह्लादपूर्वक तत्काल स्वीकार कर लिया। वाद का स्थान तथा समय भी शीघ्र स्थिर हो गए।

मथुरावासी बाहु-युद्ध (मल्ल-युद्ध) दर्शन-रसिकता के लिये तो सुचिर से प्रसिद्ध रहे ही हैं। आज से एक शती पूर्व वे शास्त्र-समर दर्शन के भी उतने ही रसिक थे। अतः मथुरा का विद्या-रसिक समाज इस शास्त्रार्थ-समाचार से अतीव प्रहर्षित हुआ।

यह प्रसंग सेठ राधाकृष्ण के लिये महती चिन्ता का कारण बन गया, यद्यपि कृष्णशास्त्री उस काल के मूर्धन्य शास्त्रार्थी विद्वानों में से एक थे तथापि सेठ जी उन्हें विरजानन्दजी के सम्मुखीन होने देने में अतीव आतङ्कित थे। वे दण्डीजी की गम्भीर शास्त्र-दर्शिता तथा अनुपम मेधा से सुपरिचित थे। उन्हें ज्ञात था कि दण्डीजी मथुरा के १४ वर्ष के निवास-काल में सदा अजेय रहे हैं। अतः वे अपने प्रज्ञागुरु के अपमान की जोखम उठाने को तैयार न थे। सोच-विचार कर उपाय स्थिर किया

गया और उनकी ओर से प्रसिद्ध कर दिया गया कि कृष्णशास्त्री की ओर से उनके दोनों शिष्य दण्डीजी से शास्त्रार्थ करेंगे। दण्डीजी ने यह सुनकर कहलवा दिया कि 'हम तो कृष्णशास्त्री के ही सम्मुखीन होंगे। उनके शिष्य हमारे शिष्यों से शास्त्रार्थ कर सकते हैं।' अब दण्डीजी ने कृष्णशास्त्री को स्वयं मैदान में आने को बलपूर्वक आहूत किया।

इस परिस्थिति ने सेठजी को पुनः अति व्यथित किया। प्रथम चाल को व्यर्थ हुआ देख अब उन्होंने दूसरा पैंतरा बदला। शास्त्रीजी की ओर से २००) रु० प्रेषित किये गए, और दण्डीजी से कहा गया कि "तुम भी २००) जमा करो। जो शास्त्रार्थ में विजयी होगा, वह ४००) पायेगा।" सेठजी ने सोचा था कि विरजानन्द २००) दे न सकेंगे और शास्त्रार्थ टल जायगा। पर शास्त्र-समरोत्सुक मान-धन परिव्राजकाचार्यजी ने २००) तत्क्षण भेज दिये। इन ४००) में १००) सेठजी ने मिला दिये, और ये ५००) पक्षपाती तथा स्वप्रगुरु की रक्षा के लिये सर्वविध पापाचरण के प्रस्तुत सेठ राधाकृष्ण के पास जमा रहे। स्वर्गीय पं० मुकुन्ददेव ने लिखा है, कि 'दण्डीजी तथा कृष्णशास्त्री के हस्ताक्षर-युक्त प्रतिज्ञा-पत्र भी लिखा गया था।'

शास्त्रार्थ गत-श्रम-नारायण के मन्दिर में होना निश्चित हुआ था। यह मन्दिर परिव्राजकशिरोमणि के वास-स्थान के समीप ही था। वे नियत तिथि पर अपराह्न में समय से पूर्व शास्त्रार्थ समरार्थ जाने को तैयार हो गए थे। उन्होंने स्व-शिष्यों को उपर्युक्त मन्दिर में भेज दिया और कह दिया था—'कृष्णशास्त्री के आते ही हमें सूचित करना।' पर उधर तो अन्य ही कार्यक्रम स्थिर हो चुका था।

कृष्णशास्त्री सभा में नहीं आये। वहाँ निश्चित समय से पर्याप्त पूर्व भारी भीड़ एकस्थ (इकट्ठी) हो गई थी। सभाध्यक्ष सेठ राधाकृष्ण ने कहा—"शास्त्रीजी आने वाले हैं। जनता उत्सुक है। आप लोग ही वाद आरम्भ तो करो।" सेठजी ने विशेष आग्रहपूर्वक अनिच्छुक

पं० गङ्गादत्त चौबे से पूर्व पक्ष कराया और स्व-पक्षीय पण्डितों से नामाचार का शास्त्रार्थ कराके, "शीघ्र ही स्व-मण्डल द्वारा उच्चैः ध्वनि से श्लोकोच्चारण व घण्टानाद कराके विरजानन्द सरस्वती के पराजय की घोषणा कर दी। पण के ५००) किसी पक्ष को न देकर, चौबों में बाँट दिये। चौबे वृद्धों को ४) ४) दक्षिणा मिल गई थी। उन्होंने बाहु-युद्धार्थ सन्नद्ध पं० गङ्गादत्त तथा रङ्गदत्त को शान्त कर दिया। दण्डीजी के शिष्य बनमाली चौबे भी उसी स्थल पर विद्यमान थे।

दण्डीजी को यह वृत्तान्त सुन बड़ा विस्मय हुआ। उनको सेठ राधाकृष्ण से इस अनीति की स्वप्न में भी आशंका नहीं हुई थी। शुद्ध-हृदय पुरुष सदा शठ से वंचित हुआ करते हैं। शास्त्रार्थ के दूसरे दिन दण्डीजी कलक्टर के पास गए और उनसे अपने सामने शास्त्रार्थ कराने अथवा रुपया दिलाने का अनुरोध किया, पर उसने अपनी असमर्थता प्रकट की।

कृष्ण-कर्मा-राधाकृष्ण को इतने ही दुरित से परितोष नहीं हुआ। मथुरावासी तो जानते ही थे कि कृष्णशास्त्री दण्डीजी से डर गए हैं, अतः वे ही परास्त हैं। स्व-प्रगुरु की इस मुखकालिमा के प्रक्षालनार्थ उन्होंने लक्ष्मण ज्योतिषी को व्यवस्था क्रयणार्थ काशी को भेजा। पण्डित-मण्डल को प्रभूत उत्कोच देकर उन्हें भी इस पाप-पङ्क-लिप्तता में साझीदार बनाया गया। पं० काकाराम शास्त्री, गौड स्वामी, काशीनाथ शास्त्री प्रभृति पण्डित-दिग्गजों ने अपने हाथों को पाप-दक्षिणा ले कलुषित किया। लक्ष्मणशास्त्री ज्योतिषी काशी से व्यवस्था लेकर आ गए।

इन ज्योतिषीजी के भतीजे पं० मूलचन्द्रजी ने सं० २००३ कार्तिक (खी० १९४६ अक्टूबर) में मुझे बताया था कि इस व्यवस्था लाने में तीन लक्ष रुपए व्यय हुए थे। पण्डितों को तो मनचाही दक्षिणा मिली ही, साथ ही लक्ष्मण ज्योतिषी भी कृतकृत्य हो गए। स्व० पं० मुकुन्द-देवजी के लेखानुसार उन दिनों प्रति पण्डित १००) दक्षिणा थी। इतनी

भेंट देकर चार हस्ताक्षर मिलते थे—एक उस पण्डित का और तीन उसके पुत्रों अथवा शिष्यों के। वे हस्ताक्षरकर्त्ता पुत्र अथवा शिष्य कितने ही अल्पवया हों इसका कुछ ध्यान नहीं रखा जाता था। आगरे में पण्डित चिरंजीविशास्त्री गवर्नमेन्ट के न्याय-विभाग में थे। कार्य था अभियोगों में धर्मशास्त्र की व्यवस्था देना। ३००) उत्कोच प्राप्त कर इन्होंने भी स्वहस्त इस पाप-पङ्क में साने थे।

श्री दण्डीजी को काशीस्थों की धूर्तता को देखकर घोर दुःख हुआ। उन्होंने काशी के प्रमुख पण्डितों को लिखा कि "अजाद्युति में सप्तमी समास कैसे है ?" काशी के पण्डित-गण प्रज्ञाचक्षुजी के विद्याबल से अर्धशती से अधिक से परिचित थे। यतः सं० १८९५ से पूर्व ही दण्डीजी काशी की पण्डित-सभा में सम्मिलित कर लिये गये थे। वे जानते थे कि दण्डीजी की अवहेलना सुकर नहीं है। अतः उन्होंने उत्तर दिया—"पक्ष तो आपका ही ठीक है, पर हम व्यवस्था पर हस्ताक्षर कर चुके हैं।" पण्डित मुकुन्ददेवजी ने लिखा है, "पण्डितों ने यह भी लिखा कि व्यवस्था आपके पक्ष में भी हो सकती है। प्रत्येक पण्डित की दक्षिणा १००) है। और वह इस दक्षिणा में चार हस्ताक्षर देगा। सूचित करिये कितने हस्ताक्षर अपेक्षित हैं।"

काशी का उत्तर पाने के दूसरे दिन श्री दण्डीजी, चिरंजीविलाल तथा केशवदेव विद्यार्थियों को साथ लेकर आगरा पधारे। स्कूल तथा कालेज के पण्डितों से कार्य-सिद्धि न देखकर सदर बोर्ड के पण्डित चिरंजीविशास्त्री से मिले। उनकी पाप-पङ्क-लिप्तता हम ऊपर लिख चुके हैं। उन्होंने कह दिया—"मैं तो हस्ताक्षर कर चुका हूँ।"

इस पाप-नाटक से लज्जित कृष्णशास्त्री मथुरा अधिक न ठहरे। अपने घर चले गये। शास्त्री के कलुष में प्रधान भाग लेने वाले लक्ष्मण ज्योतिषी उपर्युक्त घटना के कुछ मास पश्चात् घोरतर रुग्ण होकर आसन्न-मृत्यु हो गए। उन्होंने सेठजी से कहा—"दण्डीजी ने मारण-

प्रयोग किया।" सेठजी ने दण्डीजी से निवेदन किया—"आप ५००) के स्थान में १०००) ले लीजिये और लक्ष्मण ज्योतिषी को क्षमा कर दीजिये।"

दण्डीजी ने कहा—"कोई इनको अच्छा कर दे तो मैं अपना सर्वस्व दे दूं। मैं इनका अनिष्ट नहीं चाहता। मारना-बचाना मनुष्य के हाथ में नहीं है। वृथा शङ्का न करो।" दूसरे दिन ज्योतिषीजी इस लोक से प्रस्थान कर गए।

कुछ दिनों पश्चात् सेठ राधाकृष्णजी भी सं० १९१६ मार्गशीर्ष कृ० १२, सोम (२१।११।१८५९) को इस असार संसार से बिदा हो गए।

---

२२. संस्कृत अध्यापन-जगत् में अकल्पिता क्रान्ति

(सं० १९१६)

धर्म की ठेकेदार, विदुष्मती काशी की पण्डित-सभा की व्यवस्था के नाटक ने परिव्राजकाचार्यजी को गम्भीर चिन्तन में निमग्न कर दिया। वे अध्यापन बन्दकर, कुछ दिन, रात्रिन्दिवा विचार-परायण रहे। सम्यक् मीमांसा कर उन्होंने निश्चय किया कि 'अनार्ष ग्रन्थ अनर्थ के मूल हैं' और कहा कि—"भट्टोजी मूर्ख था।" बस उस दिन से अनार्ष ग्रन्थों का बहिष्कार होकर आर्षयुग प्रवृत्त हुआ।

अब दण्डीजी प्रक्रिया ग्रन्थ (वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी) व उसके व्याख्या-ग्रन्थों के प्रति एकपदे ही वीतराग ही नहीं, प्रत्युत उनके घोर द्वेषी बन गए। वे कहने लगे कुत्सित तीन हैं—१. सूत्रक्रम तोड़कर अध्ययन-मार्ग बिगाड़ने वाले भट्टोजी दीक्षित आदि प्रथम

कुत्सित हैं। २. उनके ग्रन्थ दूसरे कुत्सित हैं। ३. उन ग्रन्थों के पढ़ने-पढ़ाने हारे† तीसरे कुत्सित हैं। ये तीनों मिलकर कुत्सित त्रय अथवा कात्रि कहाते हैं।

दण्डीजी के पास दो दाक्षिणात्य भाई—१. भट्ट गोपीनाथ तथा २. सोमनाथ पढ़ते थे। उनको आज्ञा दी कि 'कात्रि-कृत इस अवकर (कूड़े) को (अर्थात् कौमुदी, मनोरमा, शेखरादि, अनार्ष व्याकरण-ग्रन्थों को) यमुना में प्रवाहित करके स-चैल (वस्त्ररहित) स्नान करके आओ। इन दोनों ने उन ग्रन्थों को घर में रख दिया और आकर—कह दिया कि प्रवाहित कर आए। दण्डीजी को किसी अन्य छात्र से यह भेद ज्ञात हो गया तो उन्होंने उपर्युक्त दोनों छात्रों को सदा के लिये पाठशाला से निकाल दिया। शब्दानुशासन (अष्टाध्यायी) के उपलब्धि का प्रकार पूर्व लिख आए हैं। उस समय यह ज्ञात हो गया था कि यह ग्रन्थ दशग्रन्थियों (ऋग्वेदपाठी ब्राह्मणों) के घर में है। अब छात्रों को शब्दानुशासन खोजकर लाने की आज्ञा हुई। छात्र महान् प्रयत्न करके, दूसरे दिन एक त्रुटित पुस्तक लाए। उसमें अनेक पत्ते लुप्त थे। अनेक दाक्षिणात्य ब्राह्मणों से बहुत प्रार्थना करने पर, बड़े क्लेश से यह पुस्तक मिली थी।

इसी एक पुस्तक पर पाठ चलने लगे और पुस्तकों की खोज चलती रही। ततः दण्डीजी ने एक पुस्तक शुद्ध करवा दी। लेखकों से उसकी प्रतिलिपियाँ ३) ३)—४) ४) में करवा दी गईं। जैसे-जैसे श्री दण्डीजी के आर्षयुग के छात्रों का आधिक्य हुआ वैसे ही पुस्तकों का प्रचार भी अधिकाधिक वृद्धिंगत हुआ। यहाँ तक कि पाणिनीयाष्टक के पाठ का घोष धीरे-धीरे काशी तक पहुँचा, तथा वहाँ के कौमुदी-पाठी पण्डित भी सूत्रपाठ का विचार करने लगे। अब पुस्तक-विक्रेता छापने

---

† इन ग्रन्थों के व्याख्याकार इस तीसरी श्रेणी के अन्तर्गत आ जाते हैं।

लगे। आरम्भ में इसका मूल्य ।।।=) हुआ। फिर तो शब्दानुशासन बीसियों स्थानों पर छप गया और दो-दो आने में बिक गया। इस ग्रन्थ के अध्यापक एकमात्र दण्डीजी ही थे। काशीस्थ विद्वान् इस कठिन कर्म में समर्थ न हुए।

शब्दानुशासन के उद्धार के पश्चात् महाभाष्य की खोज प्रारम्भ हुई। नवाह्निक (शब्दानुशासन के प्रथम पाद का भाष्य) तो प्रज्ञाचक्षुजी ने काशी में ही कण्ठस्थ कर लिया था और कदाचित् अङ्गाधिकार (शब्दानुशासन के षष्ठ अध्याय के चतुर्थ पाद से सप्ताध्याय समाप्तिपर्यन्त सवा अध्याय) का भाष्य भी कण्ठस्थ किया हो। एवं अधिकतः डेढ़ अध्याय का भाष्य कण्ठस्थ किया था। शेष साढ़े छै अध्याय का भाष्य अब लगभग ८१ वर्ष की अवस्था में कण्ठस्थ किया। वनमाली चौबे जो सम्भवतः सं० १९१६ में या उससे कुछ पूर्व दण्डीजी के शिष्य बने थे और जो कृष्णशास्त्री के साथ प्रस्तावित शास्त्रार्थ के स्थिरी भूत स्थल पर विद्यमान भी थे, प्रतिदिन रात्रि को २ घण्टे में पाँच पत्र स्मरण कराते थे। दिन में अध्यापन से अवकाश न होने के कारण एकाशीति (८१) वर्षीय दण्डीजी रात्रि में पाँच पत्र नित्य कण्ठस्थ करते थे। रात्रि में ही उस पर मनन भी होता था। प्रभात में जो भी छात्र प्रथम आता था उसे भाष्य के पत्र पकड़ाकर, अपना अधीत पाठ सुनाते थे कि यथायथ अधिकृत हुआ वा नहीं।

दण्डीजी आर्षयुग के प्रारम्भ से अपनी आयु गिना करते थे। उससे पूर्व जीवन को वे वृथायापित समझते थे। वे कहा करते थे—

"अष्टाध्यायी-महाभाष्ये, द्वे व्याकरण-पुस्तके।
ततोऽन्यत् पुस्तकं यत् तु, तत् सर्वं धूर्त-चेष्टितम्।"

श्री सरस्वतीजी के नव-वर्ष-व्यापी महान् प्रयत्न तथा सं० १९२६ में ऋषि दयानन्द के काशी में सर्व वैयाकरणों को चारों खाने चित्त करने का बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा। काशीस्थ पण्डित शब्दानुशासन

पढ़ाने में कृतकार्य न हो सके। यह सौभाग्य तो केवल दण्डीजी का ही भाग था। पर सूत्रपाठ को कण्ठस्थ करना तथा कौमुदी पढ़ाते हुए अनुवृत्तियाँ बताना आरम्भ हो गया। सिद्धान्त-कौमुदी की पुस्तकों में भी सूत्रों के पते छपने लगे। काशी के एक विद्वान् ओरम्भट्ट (अपर नाम वैद्यनाथ भट्ट) विश्वरूप ने सिद्धान्त-कौमुदी ग्रन्थ को सूत्रपाठ क्रम से व्यवस्थित कर 'व्याकरण-दीपिका' नाम्नी टीका लिखी। यह प्रथम काशी के पण्डित-पत्र में प्रकाशित हुई। तदनन्तर सं० १९७३ (खी० १९१६) में पुस्तक रूप में भी मुद्रित हुई। ऋषि दयानन्द ने सं० १९२२ में जयपुरीय पण्डितों को व्याकरण में भी खूब झकझोरा था। उनके आन्दोलन का एक परिणाम 'पाणिनीय सूत्रवृत्ति' नाम पुस्तिका है। यह शब्दानुशासन की संक्षिप्त व्याख्या है जो जयपुराधीश रामसिंहजी की पत्नी रूपकुमारी देवी की आज्ञा से पं० जानकीलाल ने लिखी थी।

ऋषि दयानन्द के अप्रतिम व्याकरण-ज्ञान से प्रभावित काशीस्थ पण्डित महाभाष्य के अध्ययन-अध्यापन में भी यत्किंचित् प्रवृत्त हुए। कुरुक्षेत्र प्रदेश के निवासी श्री पण्डित हरनामदत्तजी (जन्म जगाधरी पंजाब, सं० १९००) ने काशी में श्री बालशास्त्री से समग्र महाभाष्य पढ़ा और यावत् जीवन अन्य नवीन व्याकरण-ग्रन्थों के साथ समग्र भाष्य भी छात्रों को पढ़ाते रहे। आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित गङ्गादत्तजी (स्वा० शुद्धबोध तीर्थ) ने समग्र भाष्य काशी में इनसे ही पढ़ा था। भाष्याचार्य पण्डित हरनाम दत्तजी† सं० १९६८ व १९६९ में गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में पढ़ाते रहे थे।

---

† भाष्याचार्यजी के पौत्र श्री पण्डित विद्याधरजी बड़े विद्वान् व कवि हैं। आप बीकानेर में रहते हैं। आप बड़े ही सौम्य-स्वभाव हैं।

२३. आर्ष ग्रन्थ प्रवर्तनार्थ महान् उद्योग

[सं० १९१६–१९२५]

उत्तर भारत ने संवत् १९१४ (खी० १८५७) में स्वातन्त्र्य-लाभ का भगीरथ प्रयत्न किया था। पंजाब, बंगाल, आसाम का इसमें सहयोग न था। पंजाब (सिक्खों) तथा नैपाल ने तो प्रत्युत अंग्रेजों की सर्वात्मना सहायता की थी। उत्तर प्रदेश तथा बिहार का बलिदान महान् था। राजस्थान की जनता में विद्रोह-भावना पर्याप्त थी। चारण जाति के रत्न महाकवि सूर्यमल्ल मिश्रण पूरा उद्योग कर रहे थे, पर मेवाड़ के महाराणा अंग्रेजों के पक्ष में थे। उनके महान् प्रभाव से अन्य राजा भी तटस्थ दर्शक बने रहे। तथापि राजस्थान में जागीरदारों द्वारा ही कुछ भयंकर युद्ध लड़े गए। आउवा के धनी खुशालसिंह ने अनेक बार जोधपुर तथा अंग्रेजी सेना को परास्त किया। मध्यभारत में झाँसी की वीर रानी लक्ष्मीदेवी ने अंग्रेजों को दहला दिया। जनता अंग्रेजों के विरुद्ध थी, पर ग्वालियर नरेश अंग्रेजों के भक्त रहे। तथापि मध्यभारत में अनेक युद्ध हुए। दक्षिण में मराठे आदि अंग्रेजों के पर्याप्त विपरीत थे, पर बड़ोदे के गायकवाड़ तथा भाग्य नगर (हैदराबाद) के निजाम की अंग्रेज-भक्ति ने सब काम बिगाड़ दिया। देशद्रोहियों की उत्तर प्रदेश आदि में भी कमी न थी। पारस्परिक सहयोग का प्रायः सर्वथा अभाव था। अतः अंग्रेज सफल हो गए। बड़े-बड़े युद्ध प्रायः सं० १९१४ में लड़े गए। सं० १९१५ में भी देशभक्त यत्र-तत्र समराग्नि-कुण्ड में आहुतियाँ देते रहे। अवध (उत्तर प्रदेश) में कुछ छुटपुट टक्करें सं० १९१६ में भी हुईं। पर सं० १९१५ में ही अंग्रेजों का शासन प्रायः निष्कण्टक बन चुका था। अब इंग्लैंडेश्वरी विक्टोरिया ने भारत का शासन-दण्ड व्यापारी-कम्पनी से अपने हाथ में ले लिया और धर्म में हस्तक्षेप न करने की घोषणा की। गवर्नर जनरल लार्ड

कैनिंग ही इंगलैंड की रानी के भारत में प्रथम प्रतिनिधि बने। उन्होंने भारत में घूम-घूमकर दरबार करके विक्टोरिया की घोषणा को जनता को सुनाया।

इसी प्रसंग में सं० १९१६ मार्गशीर्ष (१८५९ नवम्बरान्त) में आगरे में कैनिंग ने दरबार किया। राजस्थान व मध्य भारत के सारे राजगण निमन्त्रित थे। हमारी वर्तमान कथा से सम्बद्ध जयपुराधीश सवाई रामसिंह† भी इसमें आए थे।

हमारे चरित्रनायक दण्डीजी का निश्चय था कि आर्ष-ग्रन्थों के निरासी अनार्ष-ग्रन्थों ने ही देश का अशेषविध अमङ्गल किया है। अब जब तक आर्ष-ग्रन्थों की पुनः प्रतिष्ठा न होगी, देश का कल्याण अ-साधित ही रहेगा। वे निर्नेत्र होने से देश में परिभ्रमण कर आन्दोलन करने में असमर्थ थे। दूसरे ये कार्य राजकीय शक्ति के सहयोग बिना साध्य भी नहीं होते। दण्डीजी का विचार था कि कोई समर्थ राजा एक सार्वभौम सभा करे। उसमें देश के सारे विद्वानों को निमन्त्रित करे। उस सभा में मैं ग्रन्थ-मर्यादा स्थापित करूँ, तो आर्ष-ग्रन्थ प्रवृत्त हो जायेंगे। इसमें उनका अनुमान था कि तीन लाख रुपये व्यय होंगे। राजगण में तत्त्व-ग्रहण में सर्वाधिक समर्थ, दण्डीजी के परम भक्त, महाविद्योत्साही, अलवर-महेन्द्र विनयसिंह यदि जीवित होते तो वे निशीथ में भी गुर्वादेश-पालन को कटिबद्ध रहते और यह कार्य अनायास सिद्ध हो जाता। पर देश के दुर्भाग्य से विनयसिंह का स्वर्ग-वास सं० १९१४ में ही हो चुका था। तदानीन्तन राज-गण में जय-पुराधीश्वर रामसिंह कुछ क्षात्र-गुण सम्पन्न थे। अतः प्रज्ञाचक्षुजी की दृष्टि उन पर गई और अशीतिवर्षीय दण्डीजी युगलकिशोर तथा जग-न्नाथ सहित आगरा पधारे।

---

† दैवयोग विलक्षण है। सं० १९१४ में कोटा, बूँदी, जयपुर इन तीनों पड़ोसी राज्यों के अधीश्वर रामसिंह नामा थे।

श्री प्रज्ञाचक्षुजी जयपुराधीश द्वारा सूचित समय पर स्वशिष्यों सहित उनके पट-मन्दिर पर पहुँचे। महाराज ने आते हुए दण्डीजी का स-सदस्य आगे बढ़कर स्वागत किया। उनको अपने आसन पर बैठाया और स्वयं सामान्य आसन पर समासीन होकर अपना परिचय दिया। विद्यार्थियों ने यज्ञोपवीत सहित श्रीफल व मथुरा के पेड़े भेंट करते हुए उत्तम स्वर से आशीर्वादात्मक मन्त्र पढ़े और महाराज ने भेंट स्वीकृत कर कृतार्थता प्रकट की। उस समय जयपुर नरेश के समीप रीवाँ वाले पुरन्दर † कवि, बूँदी के पण्डित केदारनाथ शास्त्री एवं तीरभुक्ति (तिरहुत) के पं० राजीवलोचन ओझा नैयायिक विद्यमान थे। इस प्रकार पण्डित-त्रय-परिवृत जयपुराधीश्वर रामसिंह, तारागण समावृत रजनीश्वर के समान सुशोभित थे। नरपति रत्नरामसिंह को कर्त्तव्य पालनार्थ प्रेरित करते हुए परिव्राजकाचार्य विरजानन्द बोले—

"हे नर-पञ्चानन, आप सार्वभौम वैयाकरण महासभा की आयोजना करें। आपके पूर्वपुरुष ने अश्वमेध-यज्ञ किया था। अतः आप ही प्रस्तावित सभा करने के अधिकारी हैं। समस्त भारतवर्ष के पण्डितों को निमन्त्रित कीजिये। उनके उपस्थित होने पर आपके समक्ष सिद्ध कर दूँगा कि सिद्धान्त कौमुद्यादि अनार्ष ग्रन्थ सर्वथा अपाठ्य हैं और अष्टाध्यायी, महाभाष्य आदि आर्षग्रन्थ मात्र अध्येतव्य हैं। इन्हीं के अध्ययन व अध्यापन से राजा-प्रजा दोनों का कल्याण होगा। हम दो घण्टे में सबको निश्चय करा देंगे। जो राजा आर्ष ग्रन्थ पठन-पाठन प्रवृत्त करा देगा, वह सार्वभौम महाराज होगा। आपको विजयपत्र दिलवा देंगे। आपका तीन लाख रुपया व्यय होगा पर जगत् में आप की अक्षयकीर्ति रहेगी।"

---

† पुरन्दर कवि दण्डीजी से पढ़े तो न थे तथापि उन्हें गुरु मानते थे और आषाढ़ी पर २००), २५०) दण्डीजी के पास मथुरा भेजते थे।

जयपुरपति ने कहा—"सार्वभौम सभा रचाऊँगा, पर इसकी व्यवस्था कुछ समय पश्चात् हो सकेगी। अभी समय अनुकूल नहीं है। व्यय सारा मैं वहन करूँगा।"

दीवान शिवदीनसिंहजी ने प्रज्ञाचक्षुजी से जयपुर चलने की प्रार्थना की, तो वे बोले—"यदि महाराज कहें तो हम चलेंगे" पर महाराज चुप रहे।

विरजानन्द ने चलते समय कहा—"इस सभा के करने से महती कीर्ति होगी। अन्यथा कुत्ते, गधे जैसी मृत्यु होगी। पीछे कोई स्मरण न करेगा।"

महाराज ने दो सौ मुद्रा, दो अशर्फियें और एक दुशाला भेंट किया, पर दण्डीजी ने स्वीकार नहीं किया। कहा—"हम भेंट लेने नहीं आए हैं।" जयपुराधीश ने ये वस्तुएँ मथुरा में दण्डीजी के पास पहुँचा दी थीं।

स्वामीजी ने मथुरा में आकर सार्वभौम-सभा का एक गद्य-पद्यमय विवरण लिखा था। छः मास तक जयपुर-पति की सूचना की प्रतीक्षा की। तदनन्तर दण्डीजी ने एक पत्र भी भेजा, पर जयपुराधीश के सम्मतिदाताओं ने इस सभा को महती अपकीर्ति का कारण बताकर उन्हें निरुत्साहित कर दिया। भ्रान्त मन्त्रियों के मति-कर्दम में फँसा क्षत्रिय एक सच्चे निस्पृह परोपकारी ब्राह्मण से की अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह न कर सका। दण्डीजी को जयपुरपति पर पूरा विश्वास था, उनकी महती निराशा और व्यथा का हममें से कोई क्या अनुमान कर सकेगा।

इसके उपरान्त देशहित-समुत्सुक दण्डीजी ने सेंधिया (ग्वालियर नरेश) तथा काश्मीराधिपति को भी रजिस्टर्ड पत्र भेजे। स्वदेशीय राजगण से निराश होने पर श्री दण्डीजी ने विक्टोरिया को भी पत्र भेजा। पर भारत के बुरे दिन समाप्त न हुए थे। उस व्यथित-हृदय साधु की टेर सर्वत्र अरण्यरोदन मात्र सिद्ध हुई।

२४. अनन्ताचार्य तथा वासुदेव स्वामी से शास्त्रार्थ

(सं० १९१६)

वृन्दावन के रंगाचार्य के तीन गुरुजन (श्रीनिवासाचार्य, वाचस्पति मिश्र, तथा कृष्ण शास्त्री) की चर्चा ऊपर हो चुकी है। इनके एक अन्य गुरु प्रतिवादि-भयंकर अनन्ताचार्य भी थे। इन्हीं के साथ ये काञ्ची) (कंजीवरम्. दक्षिण) से उत्तर में आए थे। इनके साथ दण्डी जी का शास्त्रार्थ मुरसान में, सं० १९१७ में तीन मास तक (प्रायः भाद्रपद कृष्ण पक्ष से कार्तिक कृष्णपक्ष तक) हुआ। दण्डीजी रात्रि मथुरा में ही बिताते थे। अर्थात् नित्य मुरसान जाते व लौट आते थे। तीन मास पश्चात् अनन्ताचार्य ने 'अब पत्र-व्यवहार द्वारा शास्त्रार्थ करूँगा' कहकर अपना पीछा छुड़ाया।

इसी सं० १९१७ में कार्तिक शुक्ला २ के पश्चात् विरजानन्द का वृन्दावन में हिम्मत बहादुर की कचहरी में वासुदेव स्वामी से शास्त्रार्थ हुआ था। इस स्थान में अब शाहजी का मन्दिर बन गया है। इस शास्त्रार्थ में स्वामी दयानन्द सरस्वती भी उपस्थित थे।

---

२५. स्वामी दयानन्द सरस्वती का अध्ययन

(सं० १९१७–१९१९)

टंकारा (मोरवी राज्य) के वैभटदार श्री कर्शन लाल जी तिवारी के घर को, सं० १८८१ फाल्गुन वदि १० शनि, मूल नक्षत्र में (१२–२–१८२५) एक भव्य आत्मा ने आलोकित किया। इनका नाम मूलशंकर रक्खा गया। दूसरा प्यार का नाम दयालजी था। इनके मातृ-

चरण का नाम यशोदा बाई था। मूलशंकर के पश्चात् एक बहिन ततः एक भाई पुनः एक बहिन तदुपरान्त एक भाई का जन्म हुआ। मूलशंकर का पाँचवें वर्ष (सं० १८८६) विद्यारम्भ तथा आठवें वर्ष (सं० १८८९) में उपनयन हुआ।

इनके पिता निष्ठावान् शैव थे। अतः दशम वर्ष (१८९२ के अन्त) में मूल जी से पार्थिव पूजा आरम्भ करा दी थी। चौदहवें वर्ष के प्रारम्भ (सं० १९९४ शिवरात्री गुरुवार २२—२—१८३८) में इन्होंने शिवरात्रि का व्रत रक्खा। जागरण टंकारा के बाहर इनके पिता के बनवास हुए कुबेरनाथ के मन्दिर में हुआ था। इस जागरण में चूहों को शिव पिण्डी पर चढ़कर चावल खाते देख इनकी मूर्ति-पूजा से आस्था उठ गई।

जब ये १६ वर्ष के थे (सं० १८९८) तो इनसे दो वर्ष छोटी बहिन थी, विशूचिका से मृत्यु हो गई। मृत्यु का भयंकर दृश्य प्रथम बार देख, इनका मन सांसारिक जीवन से एकपदे हट गया। एक बार पड़ोसी खेत वाले ने इनके खेत पर अधिकार कर लिया। मूलशंकर अकेले ही तलवार लेकर जा पहुँचे। सब लोग भाग गए। (सम्भवतः सं० १८९९)। भगिनी मृत्यु के ३ वर्ष पश्चात् (सं० १९०१) में इनके वत्सल चाचा की मृत्यु ने इनके वैराग्य को अतिदृढ़ कर दिया। इनका विवाह होने को था कि गृहस्थ बन्धन से बचने के लिये, कुछ दिन पूर्व सं० १९०३ के प्रारम्भ में ये घर से चल दिये और योगियों को ढूंढते फिरे। सायला में नैष्ठिक ब्रह्मचारी बन, 'शुद्ध चैतन्य' नाम पाया। कार्तिक स्नान के अवसर पर सिद्धपुर पहुँचे। वहाँ इनके पिता ने इन्हें जा पकड़ा (कार्तिक पूर्णिमा भौम ३-११-१८४६) पर ये चौथी रात को फिर भाग गए। अनेक स्थानों पर विद्या ग्रहण व राजयोग सीखते हुए, सं० १९०५ की ग्रीष्मऋतु में चाणोदकन्याली में श्री परमानन्द सरस्वती से संन्यास लिया और दयानन्द सरस्वती नाम पाया।

छः मास तक दण्ड धारण कर विसर्जन कर दिया। ये, स्थान-स्थान पर जाकर विद्याग्रहण व योग-साधना परायण रहे। सं० १९१० के आरम्भ में चाणोदकन्याली में दो अच्छे योगी ज्वालानन्दपुरी तथा शिवानन्दगिरि मिले। इन्होंने स्वामी दयानन्द की परीक्षा कर अधिकारी जान योग की उत्तम शिक्षा दी। इसके उपरान्त आबू पर्वत पर कुछ और भी योग तत्त्वों को प्राप्त करते हुये, ये सं० १९११ के अन्त में हरिद्वार के कुम्भ मेले पर पहुँचे। सं० १९१२ में योगियों की खोज में केदारनाथ, बदरीनाथ, आदि की यात्रा की। इस यात्रा में जोशी मठ के शंकराचार्य ने इन्हें हरिद्वार में स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती से पढ़ने की सम्मति दी। दयानन्द पर्वत यात्रा से लौटकर सं० १९१२ में लगभग १०८ वर्ष के अतिवृद्ध स्वामी पूर्णानन्दजी के पास पहुँचे। वे अतिवृद्ध हो, मौनी बन गये थे। पढ़ाते न थे। उन्होंने लिखकर दयानन्द को विरजानन्दजी के पास मथुरा जाने की प्रेरणा की।

गङ्गा-तट पर भ्रमण करते हुए, देशभक्त दयानन्द को अंग्रेजों के निकालने की बड़ी तैयारियों का पता चल गया था। इस समय को विद्याभ्यास के अनुपयुक्त समझ वे देशाटन, योगाभ्यासादि में लगे रहे। दयानन्द शस्त्रास्त्र विद्या के उत्तम ज्ञाता थे, पर आदर्श संन्यासी थे। हथियार पकड़ना उनका काम न था। तथापि उन्होंने कर्तव्य-प्रेरक साधु के रूप में नानाजी (धूँधूपन्त) से सहयोग किया प्रतीत होता है।

दयानन्द सं० १९१७, कार्तिक शुक्ला २ बुधवार (१४—११—१८६०) को विरजानन्द के शिष्य बने। उन्होंने इनसे व्याकरण व वेदान्त दर्शन का अध्ययन किया। व्याकरण के विशेष सूत्रों पर दार्शनिक चर्चायें काशी के कौमुदी के अध्यापन में भी आती हैं। इन चर्चाओं का भी विस्तार-संकोच गुरु शिष्य की योग्यतानुसार हो सकता है। जब विरजानन्द जैसे दार्शनिक गुरु थे, और दयानन्द जैसे दार्शनिक शिष्य थे, तो दर्शन के प्रायः सभी मार्मिक स्थलों की आलोचना व्याकरण व

वेदान्त के अध्ययन में ही आ गई होगी। दयानन्द के बुद्धि-विकास में विरजानन्द का विशेष भाग था। विरजानन्द दयानन्द का संयोग मणि-काञ्चन संयोग था। दोनों ने परस्पर संयोग से अपने जीवनों को सफल माना।

विद्या समाप्ति पर, मुमुक्षुवर्य, अकिंचन दयानन्द सरस्वती दक्षिणा-नियम निर्वाहार्थ लौंगें गुरु-दक्षिणा के रूप में लेकर उपस्थित हुए। विरजानन्द स्व-छात्रों से गुरुदक्षिणा रूप में कुछ न लेते थे। वे बोले—"दयानन्द, तुम्हारी यह भक्तिपूर्ण भेंट स्वीकार है, रख दो। पर एतावन्मात्र से गुरु-दक्षिणा न होगी। गुरु-दक्षिणा में मुझे तुमसे कुछ और माँगना है, और वह तुम्हारे पास है भी। क्या तुम मेरी माँगी वस्तु मुझे दे सकोगे ?"

दयानन्द बोले—"मेरा रोम-रोम आपके आदेशार्थ समर्पित है। आप निःसंकोच आदेश करिये।"

देश-दशा-चिन्तित विरजानन्द ने कहा—"दयानन्द ! देश में घोर अज्ञान फैला हुआ है। स्वार्थी लोग जनता को पथभ्रष्ट कर रहे हैं। तुम इस व्यापक अन्धकार के निवारणार्थ सर्वात्मना प्रयत्न करो।"

दयानन्द ने सहर्ष "तथास्तु" कहकर गुरुनिदेश को शिरोधार्य किया और सम्पूर्ण जीवन देशोद्धार में होम दिया। मोक्ष-प्राप्ति के स्थान में देशोद्धार मुख्य लक्ष्य बन गया।

२६. अगला वर्ष-पञ्चक

[सं० १९२०–१९२४]

अब हम अगले वर्ष-पञ्चक की कुछ विदित-काल घटनाओं की चर्चा करेंगे।

सं० १९२० में श्री दण्डीजी का बम्बई के प्रसिद्ध गट्टूलाल शतावधानी से गोकुल में शास्त्रार्थ हुआ। श्री गट्टूलाल भी नेत्रविरहित थे और प्रसिद्ध पण्डित थे। पण्डितवर्य गोपाल लालजी मध्यस्थ थे। 'एधितव्यम्' समस्या पर शतावधानी महोदय ने अपनी रचना सुनाई। दण्डीजी ने उसकी आलोचना की। शतावधानीजी दोष-परिहार में असमर्थ रहे।

गयाप्रसाद व दामोदर दत्त, दो छात्र दण्डीजी के साथ थे। विरजानन्द ने अपनी रचना दामोदर दत्त को लिखवाई और सुनाकर उसकी व्याख्या की। गट्टूलाल कोई आक्षेप न कर सके।

दण्डीजी की विद्वत्ता पर मुग्ध हो मध्यस्थ महोदय ने कहा—'मथुरा गोकुल से दूर है। अन्यथा मैं आपके नित्य दर्शन करता और आपसे अध्ययन करता।'

पं० उदयप्रकाश व्याकरण में मथुरा के कौमुदी अध्यापकों में सर्वश्रेष्ठ थे। समग्र टीका ग्रन्थ उनकी जिह्वा पर नाचते थे। उनसे दण्डीजी का कौमुदी आदि के खण्डन का अखण्ड पाठ सहा न गया। सं० १९२० या २१ में उनका दण्डीजी से शास्त्रार्थ ठहरा। यह निश्चय हुआ कि 'जो हारे वह दूसरे का शिष्य बन उससे पढ़े और उसके सिद्धान्त का अनुयायी बने।' विरजानन्द से परास्त हो उदयप्रकाश ने दण्डीजी से अष्टाध्यायी महाभाष्य पढ़े और यावज्जीवन उनका प्रचार किया।

पण्डित उदयप्रकाश के अन्तरङ्ग सखा पण्डित मणिराम व्याकरण, काव्य तथा तर्कशास्त्र के महान् विद्वान् थे। इनका फारसी भाषा पर भी पूर्ण अधिकार था। ये भरतपुराधीश महाराज जसवन्त सिंहजी को पढ़ाते थे। भरतपुर में कोई विद्वान् इनसे बातचीत में समर्थ न था। अतः वे वाग्विलासार्थ अपने परम सखा पण्डित उदयप्रकाशजी के पास मास दो मास में आया करते थे और तीन चार दिवस वाग्विलास चलता रहता था।

पण्डित उदयप्रकाश को दण्डीजी से पढ़ते कुछ समय हो गया था और यह बात पण्डित मणिराम को भी विदित हो चुकी थी।

एक दिन विद्या-गर्वित पण्डित मणिराम ने पण्डित उदयप्रकाश से कहा—"मित्र तुम भी, मथुरा के अन्य सब पण्डितों के समान, दण्डीजी के पास शिष्य रूप में चले गए। कहो, वह क्या प्रतिपादित करता है? वह कुछ जानता भी है अथवा 'घटं भित्त्वा पटं छित्त्वा प्रसिद्धः पुरुषो भवेत्' का ही उदाहरण है?"

पण्डित उदय प्रकाश ने कहा—"आप स्वयं दण्डी जी के पास पधारो। आपको स्वयं विदित हो जायेगा कि इस वसुन्धरा पर क्या-क्या पदार्थ विद्यमान हैं?"

इस बात को सुनकर पं० मणिराम मन्त्र-मुग्ध-वत्, अपने सखा के साथ श्री दण्डीजी की सेवा में उपस्थित हुए। दोनों ने दण्डीजी को प्रणाम किया। उदयप्रकाश जी ने मणिराम जी का परिचय कराया।

मणिराम मथुरा में अपने मित्र से शास्त्रार्थ के लिये ही आया करते थे। उनके पास सामग्री संचित ही थी। निजनिर्मित दस बारह श्लोक दण्डीजी को सुनाकर उनकी व्याख्या करने लगे। बीच-बीच में फारसी काव्य से भी तुलना करते जाते थे।

मणिराम का कथन समाप्त होने पर दण्डीजी ने कहा—'मणिराम जी, आपकी कविता निर्दोष और सौन्दर्यशालिनी है। पर आप अष्टाध्यायी पढ़े होते तो जो छोटे-छोटे दोष इसमें रह गए वे भी न रहते।"

पण्डित मणिराम व्याकरण के महान् विद्वान् थे। उन्होंने अपनी रचना में दोष पूछे। दण्डीजी के बताने पर शास्त्रार्थ छिड़ गया। मणिरामजी ने विख्यात पण्डित बनने के पश्चात् आज पराजय का मुख देखा। दण्डी जी ने न केवल संस्कृत में ही दोष दिखाये प्रत्युत उनकी फारसी काव्य की व्याख्या में भी दोष दिखलाये। मणिरामजी को वे सब स्वीकार करने पड़े।

अन्त में पण्डित मणिराम ने कहा—"भगवन्, मेरे सखा पण्डित उदय प्रकाश जी जिस दिन से आपके समीप अध्ययन करते हैं उसी

दिन से मैं भी आपका छात्र हूँ। मैं दो-दो, चार-चार मास मथुरा में रहकर आपसे अष्टाध्यायी और महाभाष्य पढूँगा।"

पर कुछ समय पश्चात् मणिरामजी का स्वर्गवास हो गया। अतः उनकी यह अभिलाषा उनके मन में ही रह गई।

इस मणिराम-उपाख्यान से स्पष्ट है कि दण्डीजी फारसी के भी उत्कृष्ट विद्वान् थे। फारसी अध्ययन का प्रारम्भ तो निश्चय ही गङ्गापुर में उनकी नेत्रवत्ता में ही हुआ था। इसमें विशेष प्रगति सम्भवतः कलकत्ते में हुई हो।

सं० १९२२ में दिल्ली का विख्यात धूर्त शिरोमणि महा-पण्डित हरिश्चन्द्र जो जयपुराधीश तथा रङ्गाचार्य को सफल चकमा दे चुका था दण्डीजी की ड्योढ़ी (पाठशाला) में उपस्थित हुआ। दण्डीजी पढ़ा रहे थे, वह दण्डीजी की व्याख्या की कुछ आलोचना करने लगा। दण्डीजी ने पूछा "तुम कौन हो?" उसने कहा—"मैं दिल्ली के हरिश्चन्द्र का पड़ोसी एक कायस्थ हूँ। हरिश्चन्द्रजी के साहचर्य से कुछ संस्कृत का बोध हो गया है।" दण्डीजी तुरन्त बोले कि—"नहीं, तुम दिल्ली के हरिश्चन्द्र ही हो, अन्य नहीं। तुम अपनी बात को सिद्ध करो।" दण्डीजी अपने छात्र को पुनः समझाने लगे। हरिश्चन्द्र, लज्जा से अभिभूत हो, चुपचाप चल दिया।

सं० १९२४ में (खी० १८६७) में ड्यूक ऑव् एडिन्बरा (विक्टोरिया के द्वितीय राजकुमार)† भारत आए थे। उनके साथ कोई

---

† पं० लेखरामजी ने प्रिन्स ऑव वेल्स (विक्टोरिया के बड़े राजकुमार) का आना लिखा था। प्रिन्स ऑव वेल्स खी. १८७५ में अर्थात् दण्डीजी के स्वर्गवास के लगभग ७ वर्ष पश्चात् भारत में आए थे।

इस भूल को तो मुखोपाध्यायजी ने बता दिया। पर कौन हुआ था, यह न बता सके। उन्होंने घटना को ही कल्पित मान लिया था। यह मुखोपाध्यायजी की भूल थी।

यूरोपीय संस्कृत विद्वान् भी था। उसने एक बार मथुरा की पण्डित मण्डली को बुलाया था। निमन्त्रण पाकर दण्डीजी भी गए थे। गोष्ठी में उसने सायण के काल-विषय में भी पृच्छा की थी। कदाचित् यह विद्वान ऋग्वेद के सम्पादक मैक्समूलर का सहयोगी वा मित्र रहा हो। उसने उस सभा में कुछ वेद मन्त्रों का उच्चारण किया था। उस वैदेशिक विद्वान की उच्चारण-भ्रष्टता को देख, उद्दीप्त हुए, निस्पृह, निर्भीक विरजानन्द ने कहा—'ऐसे अशुद्ध उच्चारण वाले को वेद पढ़ने का अधिकार किसने दिया ?' सबलोग दण्डीजी की अकुतोभयता को देख विस्मयान्वित हुए।

दण्डीजी ने आगन्तुक से अनार्ष ग्रन्थों के निवारण-विषय में भी चर्चा की थी।

---

२७. कुछ अविदित-काल घटनायें

(सं० १९१७—२५)

अब हम कुछ ऐसी घटनाओं का उल्लेख करते हैं, जिनके समय का ज्ञान नहीं हो सका।

ग्वालियर के आचार्य गोपाल कभी मथुरा आए थे। उनकी श्रेष्ठ वैयाकरणता सुन सेठ गुरुसहाय मल ने १००) भेंट किये। दण्डीजी ने सुनकर सेठजी को कहलवाया—'पण्डित समझकर आप जो सत्कार करें उचित है, पर वैयाकरण समझते हैं तो हमें भी निश्चय करा दीजिये।'

सेठजी तो चुप हो गए। काशी से समागत विश्वेश्वरशास्त्री ने आचार्य गोपाल को शास्त्रार्थ के लिये उद्यत किया। वृन्दावन में रङ्गाचार्य की मध्यस्थता में शास्त्रार्थ हुआ।

आचार्य गोपाल भाव को एक प्रकार का कहते थे। दण्डीजी ने महाभाष्य से भाव की द्वैधता सिद्ध कर दी और सार्वधातुके यक् (शब्दानुशासन ३-१-६७) सूत्र के भाष्य में द्विविधभाव (आभ्यन्तर व बाह्य) दिखा दिये।

पता नहीं इसी अवसर पर अथवा किसी अन्य समय, व्याकरण दिवाकर विरजानन्द ने रङ्गाचार्य से भी अष्टाध्यायी-महाभाष्य पढ़ने की प्रेरणा की थी। वे सुनकर चुप लगा गए थे।

एक बार एक अच्छे विद्वान संन्यासी आदित्यगिरि शताधिक शिष्यों के साथ मथुरा में आकर गोकर्ण मन्दिर के पास की धर्मशाला में ठहरे। ये प्रतिदिन सन्ध्या-समय धर्मशाला में भगवद्गीता की कथा कहते थे और बहुसंख्यक शिक्षितजन वहाँ कथा में उपस्थित होते थे। लोगों को विश्वास हो गया था कि आदित्यगिरि उच्चकोटि के विद्वान हैं।

विरजानन्दजी को जब आदित्यगिरि की कीर्ति कर्णगोचर हुई तो उन्होंने सोहनलाल और युगलकिशोर को उनके पास कौमुदी आदि की भ्रष्टता बताने को भेजा। कथा-समाप्ति पर दण्डि-शिष्य-द्वयी उन्हें कौमुदी के अशुद्धस्थल दिखाने लगे। कौमुदी की आलोचना सुन आदित्यगिरि कुछ देर स्तब्ध रहे। जब उनको ज्ञात हुआ कि दोनों युवक दण्डीजी के छात्र हैं और उनके आदेश से आए हैं तो उन्होंने कहा—"हम स्वयं दण्डीजी के पास उपस्थित होकर इस विषय की मीमांसा करेंगे।"

आदित्यगिरि स्व-वचनानुसार दण्डीजी के पास गए। बातचीत के पश्चात् उन्होंने स्वीकार किया कि "कौमुदी आदि अशुद्ध हैं।"

एक सुपण्डित सरयूपारीण ब्राह्मण श्री गङ्गारामशास्त्री तीर्थ-परिभ्रमण करते हुए मथुरा आए। उन्होंने पण्डित-वर्ग के साथ शास्त्रालाप किया। वे एक दिन दण्डीजी के पास भी आए। दण्डीजी के अनार्ष ग्रन्थ

खण्डन से वे अतीव प्रभावित हुए और जाते समय कह गये—"आगे से हम पाणिनि का ही प्रचार करेंगे।"

दण्डीजी ने आदित्यगिरि तथा गङ्गाराम से उनकी स्वीकारोक्तियों को लिखवा भी लिया था।

दण्डीजी की कीर्ति सुन, एक बार एक अति मेधावी पण्डित उनके पास उन्हें परास्त करने के विचार से आया। उसने वार्तालाप ऐसे कौशल से आरम्भ किया कि उसे अतिन्यून बोलना पड़े और दण्डीजी को अत्यधिक। दण्डीजी के कथनोपरान्त वह कह देता था—"महाराज, आपने कौन-सी नवीन बात कही है, यह तो दास को पूर्व ही विदित है।" ऐसा कहकर वह दण्डीजी के कथन को अक्षरशः आवृत्त कर देता था। दण्डीजी उसके कौशल को शीघ्र ही ताड़ गये। वे अब गणपाठ में आये हुए, अप्रसिद्ध शब्द-बहुल संस्कृत बोलने लगे।

अब इस पण्डित ने अपने अस्त्र-शस्त्र धर दिये और कहने लगा—"महाराज, आप वस्तुतः विद्या के सूर्य हैं। मैंने इस कौशल से बड़े से बड़े विद्वानों को परास्त किया था, पर आपकी प्राचीन संस्कृत और वैदिक शब्दों का ज्ञान मुझको अब एक पग भी नहीं चलने देते। जिन शब्दों का मुझे संस्कार नहीं और जिनके अर्थ मैं नहीं समझ सकता, उन्हें मैं अपने स्मृति-पटल पर कैसे धारण कर सकता हूँ?"

विरजानन्दजी का दर्शनों पर भी असाधारण अधिकार था। एक बार धरणिधर नामक कोई उच्च नैयायिक मथुरा में पधारे। इन्होंने १४ वर्ष पर्यन्त नव-द्वीप में नव्य-न्याय का अध्ययन किया था। वे शास्त्रालाप की इच्छा से दण्डीजी के विद्याऽऽगार में भी उपस्थित हुए। धरणिधर दण्डीजी से थोड़ी ही देर आलाप कर सके। तदनन्तर उन्होंने कहा—"मैंने चौदह वर्ष व्यर्थ ही नष्ट किये। नव-द्वीप न जाकर, आप से पढ़ना अधिक लाभप्रद होता।"

एक बार दण्डी जी कलक्टर हार्डिञ्ज के पास गए और उनसे कहा—'आर्ष ग्रन्थों के प्रचार में सहायता करने के लिये आप गवर्नमेन्ट से अनुरोध कीजिये।' कलक्टर ने उत्तर दिया—

"इस विषय में हस्ताक्षेप हमारे अधिकार-क्षेत्र से बाह्य है।"

२८. दण्डीजी की नित्यचर्या

पढ़ाने के समय से भिन्न विरजानन्दजी की पाठशाला का द्वार बन्द रहता था। कोई द्वार खटखटाता तो पूछते—"तुम कौन हो? आने का क्या प्रयोजन है?" दर्शनमात्र के लिये वे किसी को न आने देते थे। विरजानन्दजी केवल विद्या में ही रमण करते थे। अन्य लौकिक प्रसंग वहाँ सर्वथा निषिद्ध थे।

वे प्रातःकाल से पूर्व ही अपने नित्यकर्म से निवृत्त हो जाते थे और दिन भर जब भी, जो भी आकर पुस्तक लेकर बैठ जाता था, उसे पढ़ाते रहते थे। कभी कभी रात के आठ नौ बजे तक अध्यापन-सत्र चलता रहता था। जो विद्यार्थी जितने समय पढ़ता था, विरजानन्दजी अक्लान्त चित्त और अम्लान-वदन से उसे पढ़ाते रहते थे। वे थकना न जानते थे। उन्हें अध्यापन में कभी तृप्ति और विरक्ति न होती थी।

विरजानन्द शिष्य-वर्ग के साथ बड़े स्नेहाबद्ध थे। शिष्यों के क्लेश और आवश्यकताओं का भी ध्यान रखते थे। यदि कोई छात्र अधिक रुग्ण हो जाता तो उसके घर, उसे देखने भी चले जाते थे और देर तक वहाँ बैठते थे।

उन्हें ध्यान रहता था कि उनके छात्रों में कोई निन्दा का पात्र न हो और किसी के आचरणों में कोई त्रुटि न हो। दण्डीजी सदा यही चाहते थे कि उनके छात्र सर्वथा स्वच्छन्द होकर सर्वत्र समादृत हों।

वे अतीव समदर्शी थे। उच्चकोटि के स्वाभिमानी होते हुए भी छात्रों के घर जाने में हीनता का अनुभव न करते थे। छात्रों को अपने समान आसन पर बैठाते थे। छात्रों से अधिक ऊँची गद्दी पर बैठना पसन्द न करते थे। वे परिहास में ऊँची गद्दी को गधी कहते थे, और कहते थे—"गधी पर बैठकर आर्ष-ग्रन्थ पढ़ाना शोभा नहीं देता।"

एक बार विचारते-विचारते अर्धरात्रि को किसी शङ्का का समाधान सूझा तो उसी समय पं० उदयप्रकाश के घर पहुँचे। कहा "लिख लो, फिर भूल न जावें।"

विरजानन्द छात्रों के उच्चारण पर बहुत ध्यान देते थे। दयानन्द के उच्चारण की कुछ त्रुटियाँ भी विरजानन्द के पास पहुँचकर दूर हुई थीं। विरजानन्द के उच्चारण से ही अर्थ का बहुत कुछ बोध हो जाता था।

वे टीकाओं के बहुत विरुद्ध थे। इनका कभी आश्रय नहीं करते थे।

संस्कृत पाठशालाओं में प्रतिपदा को अनध्याय होता है। दण्डीजी का मथुरा का अध्यापन-काल भी आज से ११४ वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ था। पर उस महारूढ़िवादी काल में भी वे वृथा रूढियों से स्वतन्त्र थे। वे प्रतिपदा को भी पढ़ाते थे। एक दिन वे पुरुषोत्तम चौबे को सन्था दे रहे थे कि एक विद्वान् आ गए, वे कहने लगे—"आप प्रतिपदा के दिन भी पढ़ाते हैं। प्रतिपदा को पढ़ी विद्या नष्ट हो जाती है। देखो वाल्मीकीय रामायण में लिखा है कि हनुमान ने कहा था—"उस समय माता सीता ऐसी शिथिल दिखाई देती थीं जैसे कि प्रतिपदा के दिन पढ़ाई हुई विद्या।"

विरजानन्द ने कहा—"यह सर्वथा असम्भव है। वाल्मीकि ऋषि ऐसी अयुक्त बात कभी नहीं लिख सकते।"

दण्डीजी ने उसी समय पुरुषोत्तम चौबे से रामायण मँगवाई। उसमें लिखा था—"सीता उस समय ऐसी शिथिल दिखाई देती थीं, जैसी अनभ्यस्त विद्या।"

अब दण्डीजी के हर्ष का पारावार न रहा। वे कहने लगे—"देखो, हमने कहा था न कि ऋषिजन ऐसी अनर्गल बात कभी नहीं लिख सकते।"

विरजानन्द शिष्य की योग्यता परख कर कभी-कभी अष्टाध्यायी को प्रतिलोम क्रम (अन्तिम सूत्र से प्रारम्भ करके) से भी पढ़ाते थे।

छात्रों को पढ़ाते हुए यदा-कदा, देश-दशा, धर्म की आड़ में पाखण्ड आदि की भी पर्याप्त आलोचना हो जाती थी। वे कारणों का निर्देश करके निवारण का उपाय भी बताते थे।

वे कभी-कभी छात्रों से कहा करते थे—"मैं इस समय, जिस अग्नि को, धूमाकार में तुम्हारे हृदयों में अनुप्रविष्ट करा रहा हूँ, समय पाकर, वह प्रचण्ड प्रज्वलित अग्नि का रूप धारण करके भारत के मत-मतान्तरों को भस्मीभूत कर देगी।"

---

२९. कुछ अन्य बातें

विरजानन्द की प्रायः प्रत्येक बात वैचित्र्य-पूर्ण थी।

उनके आहार में विलक्षणता थी। उनका भोजन सदा एक-सा न होता था। किसी दिन कुछ खाकर रह जाते थे, किसी दिन कुछ अन्य। कभी केवल दूध पीकर रह जाते थे। कभी केवल फलों पर (निरे खरबूज, आम या नारंगी पर)। प्रायः उनके भोजन में नवीनता होती थी। भोजन-द्रव्य सदा उत्कृष्ट कोटि का लेते थे। सस्ती वस्तुएँ कभी

नहीं खोजते थे। कभी दूध में छुहारे उबालकर ही ले लेते थे। कभी केवल अन्न से ही सन्तोष करते थे। कभी-कभी शुण्ठी के साथ सैन्धव लवण मिलाकर उसी पर रह जाते थे। लवङ्ग उनकी प्रिय वस्तु थी। इसे प्रायः प्रसाद रूप में भी समागत भक्तों को वितरण करते थे। ज्योतिष्मती (मालकाँगनी) का सेवन प्रायः करते थे। आयुर्वेद के उत्कृष्ट ज्ञाता थे ही। ऋतुओं में निषिद्ध वस्तुओं का सेवन नहीं करते थे। दाडिम का रस भी उनको अति प्रिय था। ऋतु पर बहुत-सा निकालकर रख लेते थे। आहार अल्प मात्रा में होता था।

एक बार शुण्ठी-चूर्ण के धोखे में एक तोला संखिया खा गए। इससे मरणासन्न हो गए। सिर पर शीतल जल डालना व डलवाना प्रारम्भ किया। यह प्रयोग दीर्घकाल तक चलता रहा। कुक्कुटासन व मयूरासन भी पर्याप्त समय लगाए।

अनेक श्रेष्ठ वैद्य उनके शिष्य थे और सेवाऽवसर को अहोभाग्य समझते थे, पर वे अपनी चिकित्सा स्वयं कर लेते थे। एक बार गङ्गातट वास के दिनों में शरीर सूख गया था। उन्होंने एक औषध विशेष की साधना से अपने रोग का निवारण किया। शरीर के एक भाग की त्वचा भी उतर गई। काया-कल्प हो गया।

दिन में विश्राम सर्वथा न करते थे। आयु के अन्तिम भाग में, अतिवृद्धावस्था में सम्भवतः मध्याह्न-भोजनान्तर अल्प विश्राम करने लगे थे। रात्रि में भी निद्रा कम लेते थे। पढ़ाने से भिन्न उनका समय नित्य-कृत्य, योगाभ्यास व शास्त्र-मनन के समर्पित था।

वीणा-वादन में बड़े निपुण थे। निर्मूल रूढियों के शत्रु थे। उनके सारे कार्य समाखे मनुष्य के समान होते थे। कलश से जल लेते समय एक बिन्दु भी न गिरता था। सीढ़ियों पर चढ़ते उतरते मार्ग में आने जाने में किसी का सहारा न लेते थे।

अलवर में एक बार छात्र प्रेमसुख के साथ जा रहे थे। मार्ग में नारहर पड़ा। छात्र ने सावधान किया—'नहर आ गई है।' इस

सूचना ने उन्हें कुपित कर दिया। उन्होंने अनेक बार नारहर के आरपार चक्कर लगाये। प्रेमसुख चकित रह गया।

कभी किसी ग्रन्थ में कोई प्रसंग ढूँढ़ते समय छात्रों को देर लगती तो स्वयं ग्रन्थ हाथ में लेकर तुरत उस स्थल को निकाल देते थे। सब द्रष्टा चमत्कृत हो जाते थे।

विद्वानों का बड़ा आदर करते थे। भाषण में सदा शिष्टता होती थी।

ब्राह्मणों के नाम में दास शब्द से चिढ़ते थे। कहते थे—'ब्राह्मण कभी दास नहीं हो सकता।'

आस्तिकता, ऋषिभक्ति के साथ देशभक्ति, आत्मविश्वास, तेजस्विता, सत्यभाषण, सब गुण पूर्ण मात्रा में थे, पर दुरभिमान, एषणा, लालसा आदि का स्पर्श भी न था। आदर्श विरक्त संन्यासी थे। पूर्वाश्रम सम्बन्धियों से मिलना न चाहते थे। वस्त्र बहुत कम पहिनते थे।

देश में फैली विभिन्न कुरीतियों, धार्मिक विडम्बनाओं के सम्बन्ध में उपाय बताते हुए कहते थे—"अनार्ष ग्रन्थों को हटाओ। आर्ष ग्रन्थ पढ़ो। ये सब दोष स्वयं दूर हो जायँगे। 'छिन्ने मूले नैव फलं न पुष्पम्'।"

अनेक नरेश समय-समय पर उनसे धर्मादि विषयक शङ्काओं का समाधान पूछा करते थे। जयपुर-नरेश की ओर से ऐसी पृच्छायें प्रायः होती थीं।

ऋषि दयानन्द अन्तिम मिलन तक अपनी शङ्काएँ उनसे समाहित करते रहे थे।

३०. निर्वाण

(सं० १९२५)

दण्डीजी के उदरशूल रहता था। वे स्वयं उत्कृष्ट वैद्य थे। मथुरा में उस समय सरकारी डाक्टर एक ही था। अन्य प्राइवेट प्रेक्टिशनर न थे, पर अनेक उत्तमोत्तम वैद्य थे। सेठ गुरुसहाय मलजी के कुल वैद्यों में पण्डित दीनबन्धु जी उत्तम वैद्य थे और वे दण्डीजी के शिष्य थे। वे सदा दण्डीजी की सेवार्थ प्रस्तुत थे। एवं वैराग्यपुरा में पण्डित रामरत्नजी प्रसिद्ध वैद्य थे। दण्डीजी की सेवा को सभी अपना अहोभाग्य समझते थे। परन्तु दण्डीजी इन सबसे स्वयं पर अधिक विश्वास रखते थे। वे कहा करते थे—"जिस दिन हम अपनी चिकित्सा स्वयं न कर पावेंगे, उसी दिन हमारी मृत्यु हो जायेगी।" उनके पास अनेक वनस्पति, औषध सदा प्रस्तुत रहती थीं।

कहते हैं, दण्डीजी को अपनी मृत्यु का पूर्व ही ज्ञान हो गया था। निर्वाण से दो वर्ष पूर्व छात्रों से कह दिया था—"अमुक दिन उदरशूल से मरूँगा।" एक-दो भक्त सेठ प्रतिवर्ष दर्शनार्थ उपस्थित होते थे। उनसे अन्तिम मिलन के समय मृत्यु से कुछ दिन पूर्व कह दिया था—"फिर न आना।"

मृत्यु से दो मास पूर्व अपनी पुस्तकें, भाजन, वस्त्र तथा ३००) का उत्तराधिकार-पत्र (वसीयतनामा) पं० युगलकिशोर के नाम लिखकर रजिस्ट्री करा दिया था।

उन्हें यह भी सन्तोष था कि उनका योग्य शिष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती स्वप्रतिज्ञानुसार उनके जीवन की साध की पूर्ति में परायण है। ग्वालियर में भारत भर के विद्वानों के सामने भागवत का खण्डन, जयपुर के वैयाकरणों का मान-मर्दन, वैष्णवों के पाखण्डों का खण्डन, दिल्ली के धूर्त महापण्डित हरिश्चन्द्र की पराजय, पुष्कर में प्रचार, अजमेर में ईसाइयों की पराजय आदि सामाचार उनके लिये परम सन्तोष-प्रद थे।

ऋषि दयानन्द ने उनके आन्तिम दर्शन सं० १९२३ मार्गशीर्ष (खी० १८६६ नवम्बर या दिसम्बर) में किये थे। मुमुक्षुवर्य गुरुवर्य का हार्दिक आशीर्वाद लेकर हरिद्वार के कुम्भ के मेले में प्रचारार्थ गये थे। कुम्भ पर विशुद्धानन्दादि से शास्त्रार्थ, रामघाट में कृष्णानन्द से शास्त्रार्थ, कर्णवास में अम्बादत्त व हीरावल्लभ से शास्त्रार्थ, सोरों में अङ्गद शास्त्री का पराजित होकर प्रचार-कार्य में सहायक बन जाना आदि समाचार उनके लिये परम प्रीतिप्रद थे।

इस प्रकार दण्डीजी को सन्तोष था कि "प्रिय शिष्य दयानन्द द्वारा उनका जीवन-लक्ष्य पूर्ण किया जा रहा है।"

इसी प्रकार ईश्वर-भक्ति तथा आर्ष ग्रन्थाध्ययन की पवित्र साधना में जीवन बिताते हुए नब्बे वर्ष की अवस्था में उदरशूल से सं० १९२५ आश्विन वदि १३, सोमवार (१४-९-१८६८) को श्री दण्डीजी ने विनश्वर देह का परित्याग किया।

उनके अन्तिम समय पं० वनमाली आदि शिष्य-गण रोने लगे तो दण्डीजी ने पूछा—"क्यों रोते हो?" शिष्यों ने कहा—"अब हमें अष्टाध्यायी कौन पढ़ायेगा?" दण्डीजी ने अष्टाध्यायी की पुस्तक मँगाई और उसे हाथ में लेकर‡ कहा—"मैं इसमें प्रविष्ट होता हूँ। जो कुछ पूछना हो इससे पूछना।"

यह समाचार गङ्गातट पर वेदप्रचार-परायण परमहंस दयानन्द ने शहबाजपुर में कार्तिक मास में सुना। पूर्ण वीतराग होते हुए भी तुरन्त वज्राहत के समान स्तब्ध रह गये। शोक का आवेग कुछ न्यून होने पर कहने लगे—"व्याकरण का सूर्य अस्त हो गया।" मदनकोष में विरजानन्द के वर्णन में लिखा है कि "उस दिन दयानन्द ने जल भी ग्रहण नहीं किया।"

---

‡ यह घटना मुझे वनमालीजी के शिष्य श्री स्वामी ब्रह्ममुनिजी से ज्ञात हुई।

महर्षि दयानन्द जैसे महान् योगी व उत्कृष्ट पण्डित ने अपने सर्व ग्रन्थों की पुष्पिका में स्वयं को विरजानन्द का शिष्य लिखा है। विरजानन्द के जीवन-काल में उनके किसी यन्त्र-चित्र (फोटो) लिये जाने का पता नहीं चलता, पर उनके शव की शयान-अवस्था में छवि ली गई थी। उस चित्र की एक प्रति ऋषि भक्त श्री भ. मामराजजी शामली के पास सुरक्षित है। पं० युगलकिशोरजी ने उस चित्र के आधार पर दण्डीजी की आसीन अवस्था का चित्र किसी चित्रकार से तैयार करवाकर प्रसिद्ध किया। इस चित्र में सिर व धड़ तो शव के यन्त्र-चित्र से लिये गये हैं और नीचे का भाग कलमी चित्र है। युगलकिशोरजी की सच्ची गुरु-भक्ति ने उन्हें गुरु-ऋण से अनृण कर दिया।

विरजानन्द का नश्वर देह तो नष्ट हो गया, पर महापुरुषों का जन्म होता है, मृत्यु नहीं। वे अपने कार्यरूप से सदा जीवित रहते हैं।

पर इस विषय में महती कर्तव्यता आर्यसमाज पर है। वह कर्तव्य-परायण हो तो विरजानन्द और दयानन्द आज भी जीवित हैं और नहीं तो दूसरा पक्ष बना-बनाया है। अर्थात् विरजानन्द व दयानन्द को जीवित रखना अथवा मार देना आर्य-नेताओं के हाथ में है। हमें दुःख है कि आजकल दूसरा पक्ष ही प्रबलतर दिखाई दे रहा है। कुछ उच्चतम पौराणिक विद्वान तो आर्ष व्याकरण का समर्थन व प्रचार कर रहे हैं, पर अधिकांश आर्य संस्थाएँ अनार्ष-ग्रन्थों का प्रचार कर अपनी मृताविशिष्ट सत्ता-मात्र से परम परितुष्ट हैं।

परिशिष्ट १

स्वा० विरजानन्द कृति—शब्दबोध

यह ग्रन्थ सं० १८८९ में अलवर-नरेश श्री विनयसिंह के अध्यापनार्थ लिखा गया था।

इसका हस्तलेख अलवर-म्यूज़ियम में सं० ३३३४ पर है।

ग्रन्थारम्भ में मङ्गलाचरण आदि—

ओं श्री रामचन्द्राय नमः

स्ववनत-सुर-गण-मुकुट-जटित-बहुनानोच्चावच-मणि-किरणैः।
चित्र-कान्तिमदशेष-दुरित-भयनाशि-देव-चरणं वन्दे ॥१॥
कमठ-वीर-वरस्य महीपतेरलवराद्युपलक्षित-नीवृताम्।
विनयसिंह-महायशसः कृते, क्रियत एषसु-शब्दज-बोधकृत्॥२॥
स्वल्पा 'ऽऽ' यासाद् बहूञ्शब्दान्, बोधयत्यवलोकनात्।
ततो ग्रन्थस्य नामास्य 'शब्दबोध' इतीर्यते ॥३॥
संकेतो योऽनुभूत्युक्तो, यश्च भगवत्पाणिनेः।
प्रयोग-सिद्धावनयो ऋज्वर्थं स मृज्यते ॥४॥
न पाठातिशय-प्रायो, न चाप्यर्थोऽति शय्यते।
तस्मात् तद्ध्यानयेत्यादौ ध-द्वित्त्वादि ह्युपेक्ष्यते ॥५॥
ये व्युत्पत्तिं समीहन्ते, सावकाशा न विस्तरे।
ते पठन्त्वमुमेवाथानुमोदन्तां च सज्जनाः ॥६॥

अ इ उ ण् ऋ ऌ क् ए ओ ङ् ऐ औ च् ह य व र ट् ल ण् ञ म ङ ण न म् झ भ ञ् घ ढ ध ष् ज ब ग ड द श् ख फ छ ठ थ च ट त व् क प य् श ष स र् ह ल्। एषु शिवसूत्रेष्वन्त्यमित्।

इस ग्रन्थ के अन्त में लेख—

राज्ञां ख्यातिमतां हि, कच्छपतया, श्रीर्यत्र संराजते
श्रीमानालवरो द्विषां स विजयी, शार्दूल-विक्रीडितम् ।
तस्य श्री विनयेश-भूप-तिलकस्या, ऽऽज्ञा-वशादुद्धृतः
सारो व्याकरणस्य तेन भगवाञ्श्री शंकरः प्रीयताम् ॥

इति श्रीमत्-परमहंस-परिव्राजकाऽऽचार्य—श्री गौरीशंकरशिष्य श्री विरजानन्द-कृतः शब्दबोधो नाम व्याकरण-संक्षेपसंग्रहः ।

परिशिष्ट २

मुनिवर विरजानन्द की अन्त्य कृतियाँ

आर्षयुग प्रवृत्त होने पर सं० १९१६ में श्री दण्डीजी ने दो रचनाएँ कीं—

१. 'पाणिनीय सूत्रार्थ प्रकाश'। यह ग्रन्थ शब्दानुशासन (अष्टाध्यायी) के प्रथम चार अध्यायों की व्याख्या की है।

२. 'वाक्य-मीमांसा'। यह नागेश-भट्ट-विरचित शब्देन्दुशेखर का खण्डन है।+

+ ये दोनों ग्रन्थ श्री दण्डीजी के वात्सल्य-भाजन शिष्य श्री युगलकिशोर जी के पास थे। इनके गृह से, ये ग्रन्थ, इनके शिष्य श्री पं० अखिलानन्दजी ने प्राप्त किये थे। अब ये इनके अनुज श्री पं० सुबोधचन्द्रजी के पास हैं। ये अनूप शहर (जि० बुलन्दशहर) के मुहल्ला पटपरी में रहते हैं। उपर्युक्त उद्धरण हमें इन ही की कृपा से प्राप्त हुआ है।

'वाक्य-मीमांसा' के मुखपृष्ठ तथा मङ्गलाचरण नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

दण्डीजी विरचित

वाक्य-मीमांसा[१]

सं० १९१६

भारद्वाज-गोत्रोत्पन्नस्य नारायणदत्त-सूनोः गौरी-शंकर-शिष्यस्य विरजानन्द-स्वामिनः कृतिः ।

नमो वः पाणिनेऽभीक्ष्णं कात्यायन पतञ्जले ।
तत्[२] साधय तेनाहं कुर्यां धूर्त[३]-निराकृतिम् ॥
ग्रन्थो[४]ऽशुद्धोऽधियः[५] शुद्धं मत्वा क्रियन्ति यत्नतः ।
व्याख्यायते मया भाष्यं पर्यालोच्येत्र कृत्स्नशः ॥
मीमांसितेषु[६] वाक्येषु शक्या धूर्त-निराकृतिः ।
अतोऽयं वाक्य-मीमांसा नाम्ना ग्रन्थः[७] प्रवर्त्स्यति ॥

टिप्पण्यः :—

१. नागेश-भट्ट-कृत-शब्देन्दुशेखर-खण्डन-रूपेयं कृतिः ।
२. तत् प्रसिद्धं ज्ञानम् ।
३. धूर्ता नागेश दीक्षित-प्रभृतयः ।
४. शब्देन्दुशेखर रूपः ।
५. अधियो जनास्तं शुद्धं मत्वेति भावः ।
६. विचारितेषु सत्सु ।
७. प्रस्तुतो ग्रन्थ-भेदः ।

परिशिष्ट ३

व्याकरण-दिवाकर स्वा० शुद्धबोध तीर्थ का संक्षिप्त वृत्तान्त

लोकोत्तर धिषणा-विभूषित स्वा० विरजानन्द सरस्वती की शिष्य-परम्परा के समुज्ज्वल रत्न पं० गङ्गादत्त का जन्म, बिल्व-वन (बेलौन) में संभवतः सं० १९२३ में हुआ था।

यह बेलौन उत्तरप्रदेश के जिला बुलन्दशहर में भागीरथी तट से अनतिदूर एक कस्बा है। यहाँ बेला भवानी का मन्दिर है। वर्ष में दो बार मेला लगता है।

भारतभूमि के (प्रत्युत संसार-मात्र के) अनुपम उपकारक ऋषिवर दयानन्द सरस्वती ने अपनी गङ्गा-तीर-तपोवेला में सं० १९२४ के आश्विन शुक्ल पक्ष में, मेले के समय, इस ग्राम को पवित्र किया था और तीन-चार दिन तक धर्म-मेघ बनकर, भक्तों के मनों को आप्यायित करते रहे थे।

श्री गङ्गादत्तजी के पिता, श्री हेमराज वैद्य, तेजस्वी सनाढ्य ब्राह्मण थे। वे अच्छे वैद्य थे। यह पैतृक विद्या पं० गङ्गादत्त को दाय-भाग में सम्यक् प्राप्त हुई थी।

बालक गङ्गादत्त ने चौथी श्रेणी तक ग्राम के स्कूल में शिक्षा पाई।

इन्होंने सं० १९४२ व ४३ में, खुर्जा में पं० किशोरीलालजी से ज्योतिष तथा पं० हरजसराय गौड भटियाना से लघुकौमुदी पढ़ी।

तदनन्तर सं० १९४४ ज्येष्ठ से सं० १९४५ कार्तिक तक मथुरा में श्री दण्डीजी के शिष्य पं० उदयप्रकाशजी से अष्टाध्यायी पढ़ी। गुरु-गृह में गो-सेवा का कार्य इनका भाग था। जंगल से पाला तोड़कर लाते थे और कुट्टी करते थे। पर्याप्त समय तक अन्य छात्रों के साथ पाठ

सुनते रहे। गुरु-माता की सिफ़ारिश होने पर गुरुजी ने इनका स्वतन्त्र पाठ भी चलाया।

ये पण्डित उदयप्रकाशजी से भाष्यान्त व्याकरण अध्ययन के संकल्प से मथुरा गए थे, पर सं० १९४५ कार्तिक शुक्ल ९, सोम (१२-११-१८८८) को गुरुजी का स्वार्गवास हो जाने से वहाँ से चल पड़े।

कानपुर में एक आधमास मात्र ठहरते हुए, पैदल काशी पहुँचे। यहाँ सं० १९४६ से १९५१ के चतुर्थ चरण (खी० १८९४ के अन्त) तक रहे। काशी के प्रसिद्ध विद्वान पं० काशीनाथशास्त्री से नवीन-व्याकरण व दर्शनों का अध्ययन किया। पं० हरनामदत्त भाष्याचार्य से समग्र महाभाष्य पढ़ा। भाष्याचार्यजी सं० १९४० में काशी से चूरु (राजस्थान) चले गए थे। वे संभवतः संवत् १९५० में अथवा इससे पूर्व पुनः काशी आ गए थे।

काशी में स्वा० दर्शनानन्दजी (पूर्वाश्रम नाम पं० कृपाराम शर्मा), पं० भीमसेन शर्मा, पं० आर्यमुनिजी आदि अनेक आर्यविद्वानों से मैत्री हो गई थी। यहाँ काशिका का संपादन किया। घर सं० १९४४ में छोड़ा था। वहाँ कुछ भी घटित होता रहा। अनेक बार साग्रह बुलावा आया, पर ये भाष्य-समाप्ति से पूर्व घर न गए।

काशी त्यागने पर कुछ काल स्वगृह पर वेलौन रहे। खूब व्यायाम आदि कर, काशीवास की कृशता को दूर किया। स्वास्थ्य को सम्यक् सुधारा (सं० १९५१-५२ = खी० १८९५)।

फिर कुछ काल (सं० १९५२) भारोल (जि० मैनपुरी) के रईसों को संस्कृत पढ़ाते रहे।

तदुपरान्त सं० १९५३ (खी० १८९६) में जालन्धर पहुँचकर, पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा स्थापित वैदिक आश्रम (उपदेशक श्रेणी) का प्रबन्ध व अध्यापन-भार सँभाला। सं० १९५५ (खी० १८९८) में इस आश्रम के साथ गुजराँवाला गए।

पं० गङ्गादत्तजी सं० १९५६ (खी० १८९९) में श्री शिवदयालजी के साथ वैदिक धर्म प्रचारार्थ मद्रास गए। अगले वर्ष (सं० १९५७ = खी० १९००) वे हरद्वार पहुँच गए थे।

पं० गङ्गादत्त सं० १९५८ (खी० १९०१) में काँगड़ी गुरुकुल के प्रथम आचार्य बने। यहाँ से वे सं० १९६० (खी० १९०३) में काशी गए और वहाँ से पं० काशीनाथ जैसे उद्भट पौराणिक विद्वान को अध्यापनार्थ गुरुकुल में लाने में सफल हुए। गुरुकुल निवास में इन्होंने अष्टाध्यायी की संक्षिप्त व्याख्या लिखी। काँगड़ी में श्री मास्टर रामदेवजी के हैड मास्टर रूप में आने पर प्रबन्ध विषय में मतभेद उत्पन्न हुए और वे दिनोंदिन बढ़ते गए। अतः आचार्यजी खिन्न होकर गुरुकुल से चले गए और कुछ काल हृषीकेश, भोजपुर आदि में निवास किया (सं० १९६३-६४ = खी० १९०६-१९०७)।

तदनन्तर उन्होंने श्री स्वा० दर्शनानन्दजी द्वारा स्थापित गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर का आचार्य पद स्वीकार किया। (सं० १९६४ = खी० १९०७) और अन्त तक इस पद को सुशोभित करते रहे। यहाँ वे एक बार अधिक रुजाक्रान्त हो गए थे, अतः उनकी पूज्य माताजी उन्हें देखने आईं थीं। कुछ समय पश्चात् उनकी माताजी का स्वर्गवास हो गया (सं० १९६६ = खी० १९०९)। सं० १९७२ (खी० १९१५) में उन्होंने ब्रह्मचर्य से सीधा संन्यास ग्रहण किया।

आचार्यजी अपने वैदुष्य के कारण पौराणिक विद्वानों में भी पूर्ण समादृत थे। उनसे शंकराचार्य पद के लिये वारम्वार प्रभूत आग्रह किया गया, पर उन्होंने इस महान् सम्मान व वैभव को ठुकरा दिया। वे व्याकरण के प्रसिद्ध विद्वान् थे और प्राचीन व नवीन सर्वग्रन्थों को अव्याहत गति से पढ़ाते थे। वे सफल अध्यापक थे। विषय को बड़े उत्तम ढँग से समझाते थे। वे दिनभर पढ़ाकर भी थकते न थे। प्रातः सायं भ्रमण में भी प्रायः छात्र अपनी कठिनताएँ उनसे पूछते रहते थे।

उन्होंने अकेले आर्यसमाज में जितने पण्डित उत्पन्न किये उतने अनेकों ने मिलकर भी न किये होंगे। गुरुकुल काँगड़ी के भी पुराने योग्यतम स्नातक आचार्यवर्य की ही सृष्टि थे।

सं० १९८१ में दयानन्द शताब्दयुत्सव से ९–१० मास पूर्व उन्होंने अनार्ष ग्रन्थ (सिद्धान्त कौमुदी) पढ़ाना बन्द कर दिया था। मेरे अष्टाध्यायी-अध्ययन की कहीं भी व्यवस्था न बन सकी थी, अतः पहले मैंने आचार्यवर्य से सिद्धान्त कौमुदी पढ़ी थी और सं० १९८१ में अष्टाध्यायी पढ़ी। मेरे मित्र श्री राजेन्द्रजी भी इस समय मेरे साथ महाविद्यालय में अध्ययन-परायण थे। वे मेरे चले आने पर भी पर्याप्त समय महाविद्यालय में रहे और पूज्य आचार्यजी से महाभाष्य भी पढ़ा। इन्होंने देहली में दयानन्द विद्यालय स्थापित करके और जोश से चलाकर अपनी विद्या को सम्यक् सफल किया।

आचार्यवर्य की प्रार्थना को स्वीकार कर भाष्याचार्य श्री पं० हरनामदत्तजी ने महाविद्यालय ज्वालापुर में अध्यापन-कार्य किया (सं० १९६७ व ६८ = खी० १९११ व १२)।

इस महातपस्वी विद्वान ने सं० १९९० आश्विन शु० ७, भौम (२६–९–१९३३) को महाप्रयाण किया।

दुःख का विषय है कि आचार्यवर्य का इतना विद्वत् शिष्य-मण्डल होते हुए भी किसी ने उनकी जीवनी लिखने का प्रयत्न नहीं किया। मेरे विचार में मैंने, प्रथम बार, उनकी जीवन-घटनाओं को क्रमबद्ध व कालबद्ध करके इनकी जीवनी की रूप-रेखा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। यदि कोई सज्जन इस कार्य को आगे बढ़ावेंगे तो पुण्य-भाजन होंगे। जो मेरी भूलों से मुझे सूचित करेंगे, उनका मैं कृतज्ञ होऊँगा।